श्रेष्ठ ललित निबन्ध

सम्पादक

डॉ. के. सतीश

श्रेष्ठ ललित निबन्ध

১০

श्रेष्ठ ललित निबन्ध

सम्पादक
डा. के. सतीश

प्रगति संस्थान
दिल्ली-110 092

मूल्य : 30 रुपये

संस्करण : 2007

प्रकाशक : प्रगति संस्थान
एच-601, फ्रेंड्स अपार्टमेंट, पटपड़गंज
दिल्ली-110 092

मुद्रक : बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

SHRESHTHA LALIT NIBANDH
by Dr. K. Satish

आभार

श्रेष्ठ ललित निबन्धों का संकलन विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर किया गया है जो अपनी श्रेष्ठता और व्यक्तित्व के कारण हिन्दी की प्रतिभा के विस्तार और विकास दोनों को उदाहृत करते हैं। उद्देश्य है, इसके माध्यम से विश्वविद्यालय के छात्रों का उस विन्दु पर प्रशिक्षण जहाँ शिक्षा योग्यता और संवेदना अर्थात् उत्पादन में फलित होती है।

जिन महानुभावों की उदारता से रचनाएँ संकलित हो पायी हैं, उन सबका आभार स्वीकार करता हूँ।

- सम्पादक

क्रम

सूर्योदय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

देखो भाई, सूर्य का उदय हो गया। अहा ! इसकी शोभा इस समय ऐसी दिखाई पड़ती है मानो अन्धकार को जीतने को दिन ने यह गोला मारा है, अथवा प्रकाश का यह पिंड है, वा आकाश का यह कोई बड़ा लाल कमल खिला है, वा लोगों के शुभाशुभ कर्म की खराद का यह चक्र है, अथवा चन्द्रमा के रथ का पहिया है—घिसने से लाल हो गया है, अथवा काल के निर्लेप होने की सौगन्ध खाने का यह तपाया हुआ लोहे का गोला है, अथवा उस बड़े आतिशबाज़ का—जिसने रात को अद्भुत गजसितारा छोड़ा था—यह दिन का गुब्बारा है, वा यह एक लाल व्योमयान (बैलून) है जो समय को लिये इधर-उधर फिरा करता है, वा संसारियों का दिन के काम पर जो अनुराग है—यह उसका समूह है, वा पूर्वदिशा का माणिक्य का सीसफूल है, वा काल-खिलाड़ी का यह लाल पतंग है, वा समय-रेल का आगमन-सूचक वह आगे की लाल लालटेन है, वा उस बाजीगर का यह भी एक खेल है कि अधर में एक लाल झाड़ रौशन कर दिया है, वा काल-रूपी यह कोई बड़ा गृद्ध है, जो जगत् को खाता चला आता है, वा उस बड़े टकसाल की यह एक अशरफी है जो चन्द्रमा-जैसे रुपये से भी दाम में सोलह गुनी है, वा समय-रूपी चालान की पेटी पर

यह लाह की मोहर है, वा आकाश-रूपी दिगम्बर का भीख माँगने का यह ताँबे का कटोरा है. वा अँधेरे से लड़नेवाले चन्द्रमा-वीर की यह खून-भरी ढाल है, वा ज्योतिषियों की बुद्धि की घुड़दौड़ का सीमाचिह्न है, वा वे कितना भी गिना किये—हाथ कुछ न लगा उसी का यह बिन्दु है, वा रात-दिन के तौलने का यह तराजू का पलड़ा है, वा मजीठ का कुंड है, वा लाल पत्थर का गुम्बज है, वा काल का चक्र है, वा वेलालता का यह पक्की मिट्टी का थँवला है, वा जगत् के सिर का छत्र है, वा काल-महा-राज की सूरजमुखी है, वा संसार के सिर की यह लट्टूदार पगड़ी है, वा हठीले बालक के खेल की यह चकई है जो इसकी आज्ञारूपी डोर पर ऊँची-नीची हुआ करती है। वा जगत् को जगाने का नगाड़ा है, वा सबको उठते ही शकुन होने को यह सामने दिशा की यह लाल हथेली है, वा उस कर्मकांडी का यह अग्निकुण्ड है जिसमें नित्य वह जगत् की आयु होम करता है, वा उस मंगल-मूर्ति की यह मंगला आरती है, वा उस दरबारे के गजर देने का यह घड़ियाल है, वा कोई लाल आरसी सामने खड़ी है, वा उस परम प्रकाशित भवन का एक मोखा है, वा आकाश-सरोवर का यह लाल कछुआ है, वा किरणों का जाल फैलानेवाला कोई मछुआ है, वा जगत् को मृगतृष्णा-भ्रम के जादू में फँसाने को छुमन्तर का पिटारा है, वा उस कबूतरबाज़ का सुरखा लक्का-कबूतर है, वा संवत् जलानेवाली होली है वा संसार का सिरमौर है, वा जगत् पर दयालु के अपार अनुराग का यह एक किनका है. या लोगों के बुरे-भले कामों के लाल बही पर लेखा लगाने की यह दवात है, वा उसके दरबार के शिखर का कलस है, वा वह उस भार का मुँह है, जिसका संसार लावा है या होनहार की सवारी का बनाती चक्रडोल है, या दिक्कुजर का रंगीन हौदा है, वा उस व्यापारी का यह भी एक बटखरा है जिसका संसार सौदा है, या भाग्य-रूपी स्टाम्प की यह लाल मुहर है, वा काल की इस संसार-रूपी रणभूमि की नदी का फेन है, वा काल-सर्प का फन है, वा समय-रूपी मतवाले हाथी का घंटा है, वा जगत् जालसाज़ का मन है—इसी से सारा टंटा है, वा

लोगों की बुद्धि-रूपी सरस्वती का कुंड है, या काल-कबन्ध का मुंड है, वा आकाश-दर्पण में यह भूगोल का प्रतिबिम्ब है, वा चन्द्रमा का बड़ा भाई है, वा केसर के रंग का फुहारा है, वा भूगोल में जहाँ लाखों ग्रह पड़े हैं वहाँ यह भी एक छोटा-मोटा लाल मंडल है, वा पूर्व दिश-सोहाग्नि का सिधोरा है, वा शकुन के नारियल का गोला है जो रोली में बोरा है, वा लोक का दीप है, या सर्वदा फैशन बदलनेवाले काल की चक्करदार टोपी है, या सच पूछो तो उसकी जेब-घड़ी वरंच धर्म-घड़ी है, वा आलोक की खान है, वा जगत् पीसने की चक्की है, वा कपट-नाटक सूत्रधार का यह भी कोई गोल-मटोल लाल चेहरा है, या उस खिलाड़ी की शतरंज का कोई सुर्ख मुहरा है ।

चढ़ती उमर

●

बालकृष्ण भट्ट

ईश्वर की सृष्टि में चढ़ती उमर भी क्या ही सुहावनी होती है, जिसकी आमद में क्या स्त्री क्या पुरुष कुरूप-से-कुरूप भी थोड़े समय के लिए अत्यन्त भले और सुहावने मालूम होने लगते हैं। लिखा भी है—

"प्राप्ते च षोडशे वर्षे सूकरी चाप्सरायते।"

नई जवानी, नये खयाल, नई उमंग, नई सज-धज, नये हौसले, चढ़ती उमर के उफान में सब नया-ही-नया, जर्जरित, सड़े-घुने-पुराने का कहीं लेश या छुआव भी नहीं। इस दशा में नयों को जो पुरानों की कोई कदर जी में न रही, तो इसमें अचरज की कौनसी बात हुई! नयों की अपनी ओर अश्रद्धा देख पुराने जो उन्हें अशालीन, धृष्ट और गुस्ताख कह बदनाम करें, तो यह पुरानों की पुरानी अकिल की खूबी है, यद्यपि वे खुद भी अपनी चढ़ती उमर में ऐसे ही थे। लोहे-तांबे उतर अब बड़े संजीदा और बुजुर्ग बन बैठे, तो अब चढ़ती उमर वालों में नुक्ताचीनी करते सब दोष ही देख झुंझलाते हैं। यह नहीं सोचते कि इस नई उमर के उभार में जो कुछ विनीत भाव, नम्रता, भलाई की ओर झुकावट और बुराई से घिन बनी रहे, वही ग़नीमत है, नहीं तो आदमी की ज़िन्दगी में यह वक्त ऐसा नाजुक और अल्हड़पने का होता है कि उसके जोश में जो

कुछ निकृष्ट काम आदमी न कर गुज़रे, वही उसकी तारीफ़ है। यह उमर अनेक दुर्व्यसन या बुराई के उगने और बढ़ने की प्ररोह-भूमि है। जैसा खेत जब जोत-बो के तैयार किया जाता है, तब उसमें जो बिया बोया जाता है, वह दिन दूना रात चौगुना फबकता हुआ बढ़ता जाता है। अथवा नई जवानी फलवन्त उर्वरा पृथ्वी का एक बाग है, जिसमें मेवे के उमदा पेड़ न लगाए जाएँ तो लम्बी-लम्बी घास आप-से-आप उग आती है। इसी से चतुर सयाने बाग़वान की तरह अच्छे माँ-बाप अपनी सन्तान की फिकिर करते हैं। सदुपदेश, सद्‌गुण, अनेक विद्या-शिल्प और कला को वृक्ष की भाँति उनमें आरोपण करने की सदा चेष्टा किया करते हैं। बाप-माँ का उद्यम सफल हुआ और लड़का उनका इस चढ़ती उमर में भलाई और अच्छे ढंग की ओर झुक पड़ा तो जीवन-पर्यन्त भली ही बात करता जाता है। अनेक विद्या का उपार्जन कर वंश का भूषण हो, जन्म-भर अपने जन्मदाता को सुख देता रहता है। बुराई और कुढंग की ओर झुक पड़ा तो कुल का दूषण हो, यावज्जीवन वह अपने बाप-माँ को डहता है। इस चढ़ती उमर में जब मनुष्य की यावत् वस्तु का उपचय होता जाता है, एक विवेक या विचार अलबत्ता पास नहीं फटकने पाता। सच कहो ता विचार को अवकाश उमर के धँसने ही पर मिलता है। गदह-पचीसी प्रसिद्ध है। शादी का भी कौल है—

चेहल साल उमरे अज़ीज़त गुज़स्त।
मिज़ाजे तो अज़ हाल तिफली न गस्त॥

इससे सिद्ध हुआ कि परिपक्व बुद्धि या विचार-शक्ति मनुष्य में तब तक नहीं आती, जब तक उसकी चढ़ती जवानी का समय नहीं बीत गया। यही एक ऐसा भारी दोप है, जिससे नौजवानों में बहुत-से उत्तमोत्तम गुण, उत्साह, अध्यवसाय, दृढ़ता, स्थिरता, साहस, हिम्मत आदि के रहते भी वे क्षिप्रकारी, अविचारी और अविवेकी कहलाते हैं। सब भाँति निपांगुर अपाहिज बूढ़ी दाढ़ी वाले उन्हें छोकरा, दालिश तिफल और मूर्ख समझ अपने मुक़ाबले उनका कुछ भी गौरव नहीं करते, चाहे वे कैसे हीं विद्वान

हो गये हों। तो निश्चय हुआ, नौजवानी की उमंग बड़े काम की होती है, यदि वे अपने काम समझदारी और विचार के साथ करते रहें। नव-वय शृंगार-रस का तो प्रधान सहारा है। अठारह वर्ष की उमर से पच्चीस वर्ष में हम जो कुछ कर लेंगे वह जीवन-पर्यन्त हमारे काम आएगा। जिस ढंग पर हम ढुलक जाएँगे, जन्म-भर वह ढंग हमारा न बदलेगा। मुहरसे आ रहे हों; मूंछों की रेख भीजती हो, ऐसे वयःसन्धि में प्राप्त की रेख कन्दर्प को कई गुना अधिक बढ़ा लेती है। इस तरह के नवयुवक या नवयुवती को परस्पर प्रेमबद्ध कराने में वह अपने पाँचों बाणों को एक साथ जब छोड़ने लगता है, वह समय जैसा नाज़ुक, सुहावना और प्यारा होता है वैसा ही भयंकर भी है। ऐसे समय आँख अलग उरझना चाहती है, मन अलग उचाट होना आरम्भ हो जाता है, दोनों को परस्पर प्रणय-बन्धन में बाँध देना ही उस समय सयानपन है। शान्ति ऐसे ही समय की सराहने लायक है। इसी से किसी ने कहा है—

नवे बयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शयः कस्य न जायते॥

जो नये वय में शान्त है उसी को शान्त कहना चाहिए। चालीस वर्ष के उपरान्त जब इन्द्रियाँ शिथिल होने लगीं, और अपने-अपने विषयों की ओर से उपराम को प्राप्त होने लगीं, तब तो शान्ति अपने-आप हमारा दामन पकड़ लेती है। घी ढरक गया, हमें रूखी ही भाती है। बुढ़ापे की शान्ति इसी भाँति की है। चढ़ती जवानी की उमंग का स्वरूप किसी ने इस तरह पर दिखलाया है—

चुलबुल चालाक चुस्त चर पर छिन छिन में होत।
छैले छबीले छिछोरे और छोर के।

नई जवानी में आये हुए को जब ये सब बातें न हों वरन् संजीदगी और गौरव का आदर उसके चित में हो, उसी को शान्त कहना चाहिए और ऐसा ही मनुष्य समाज का अगुआ होने लायक है, जिनकी संख्या बहुत कम पाई जाती है। कोई-कोई ऐसे हैं जो इस असिधारा-व्रत के व्रती

पाये जाते हैं। नहीं तो नई जवानी के आरम्भ में जैसा एक स्वाभाविक गहन अविवेकाधिकार बुद्धि में छाया रहता है वह ऐसा नहीं है कि जिसे साधारण चिराग की क्या ताक़त वरन् बिजली की रौशनी भी हटा सके। इधर तरुणाई की तरल तरंग, उधर जो कहीं खाने-पीने की आशा, इसके सिवाय बहुत-सा धन पास हुआ और बेरोक-टोक खुद मुख़्तार मालिक उसी बड़ी दौलत के हुए तब फिर क्या कहना? 'एक तो तित्तलौकी दूजे चढ़ी नीम।' ऐसी दशा में उनके दारुण लक्ष्मी-मद की चिकित्सा और दर्प-दाह-ज्वर की गरमी का शिशिरोपचार अति कष्ट-साध्य है। उनके ऐश्वर्य-तिमिर-जनित अन्धत्व के दूर करने को बरेली में भी अब तक ऐसा कोई सुरमा न ईजाद किया गया।

चढ़ती उमर के जोश में बुद्धि-वर्द्धक शास्त्रों के द्वारा माँजने से भी जब तक इसका नशा दूर नहीं होता, बुद्धि की स्वाभाविक मलिनता नहीं जाती। गदह-पचीसी को जहाँ इसने डाका और बाल पकने लगे कि पक्कापन उसमें आप-से-आप आ जाता है। सुफ़ेदी से चमकते हुए बाल मानो गवाही देने लगते हैं कि बुद्धि के माँजने से जो चमक आई है वह अब तक छिपी रही—आओ, अब उसकी चमक आकर देखो।

हमने ऊपर लिखा है, कोई-कोई ऐसे हैं जो चढ़ती उमर में भी असि-धारा-व्रत के समान चरित्र-पालन में सावधान रह चढ़ती उमर के स्वाभाविक दोष से बचते रहते हैं। उनके गुण-गौरव के प्रकाश का अवसर यही ढलती उमर का बाल पकनेवाला समय होता है जिनकी दमन-शक्ति की दमक और बुद्धिचातुरी की चमक अब चौगुनी बढ़ जाती है। धन्य है ऐसे लोग जो इस नई उमर को चौकसी से पार हो गुण-गांभीर्य के अगाध सागर बन औरों के लिए नमूना बनते हैं। साधुजन ऐसों ही का सत्कार करते हैं, विद्वन्मडली उसको अपना अग्रसर मानती है, चापलूस, मुफ्तख़ोर खोटे लोग उसे देख शरमाते हैं, मुँह छिपाते हैं, उससे आँख मिलाने की हिम्मत नहीं बाँधते। धूर्त, प्रतारक, वंचक वकवृत्तियों की कोई कला उसके सामने नहीं लहती। इसमें सन्देह नहीं, यह उमर एक कसौटी है। जो

इसमें कसे जाने से खरा निकल गया वह उमर के बढ़ने पर अपने चारु-चरित्र में चारुदत्त का नमूना बनता है। नीचे का यह श्लोक ऐसों ही के उदार चरित्र को दर्साने वाला है—

उपरि करवालधाराः क्रूराः सर्पाः भुजंगमपुंगवाः।
अन्तः साक्षाद्यक्षा दीक्षागुरवो जयन्ति केपि जनः॥

यह लेख हमने केवल नई उमर वालों के उद्देश्य से लिखा है। आशा है, इसे ध्यान से लोग पढ़ेंगे तो अवश्य उनको एक प्रकार की चेतावनी होगी। नई उमर में जो बहुत-से दोष मनुष्य में आ जाते हैं उनसे बचेंगे और समाज तथा अपने भी कल्याण-साधन में अग्रसर होंगे।

धोखा

प्रतापनारायण मिश्र

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जबकि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच को सुवर्ण मृग समझ लिया था, तो हमारी-आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाएँ। वरंच ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार-निर्विकार रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है। उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है व धोखे की टट्टी खड़ा करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं; क्योंकि वेदों में उसे 'आश्चर्योऽस्य वक्ता' कहा है और

आश्चर्य को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला। और सच भी यही है। जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कह नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता है? शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को सन्देह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है, तब उसके बनाये संसार में भ्रम अर्थात धोखे का अभाव कहाँ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं। यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली-भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, या जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट-फूटकर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं। परमेश्वर सबका भरम बनाये रखे; इसी में सब-कुछ है। जहाँ भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा

खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, वरंच निरे अकर्त्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक है, जस मेहरी तस मात" इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाश की जड़ है। ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मल-मूत्र, मांस, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकार-मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन-स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करत हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सिर में कितने बाल हैं वा मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किन्तु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिए तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वाच नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण-भर के उपरान्त न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़ के हमारे पक्ष में कैसे हो जाएँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या ? आखिर एक दिन मरना है, और "मुँदि गई आँखें तब लाखें केहि काम की।" पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रबन्ध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें। "ना हम काहूँ के कोऊ ना हमारा" का उदाहरण बन के सब प्रकार सुख-सुविधा सुयश से वंचित रह जावें। इतना ही नहीं वरंच और भी सोचकर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरज़े दुरुस्त हैं, और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन की आवाज़ आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहाँ न उसकी गति है, न शब्द

है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है। जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव ? कैसी आत्मा ? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दु:खादि का होना भी नास्तिकों के ही मत से नहीं, किन्तु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख-दु:ख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और वैकुण्ठ का पता कहीं नहीं पाया, किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कर्मों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर भी तो अपना-पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास का "गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई" और श्री सूरदासजी का 'माया मोहनी मन हरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं ? धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब-कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, वरंच रही न जाय। फिर इस शब्द का स्मरण या श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सिकुड़ जाती है ? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणत: जो धोखा खाता है वह अपना कुछ-न-कुछ गँवा बैठता है, ओर जो धोखा देता है उसकी एक-न-एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि

इससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग नहीं रह सकता, वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहने वाले अल्पसामर्थ्यी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निन्दा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गये हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम की वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब-कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा अथवा चोरी करके धर्म खोइयेगा, व भूखों मर के आत्महत्या के पापभोगी होइयेगा। यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइये या आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत-से रोग-दुःख दूर हो जायेंगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खा के धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा, चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

मन की तरंग

●

बालमुकुन्द गुप्त

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था। सामने से सन्ध्या फुरती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ हो रहा था। बादाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं; चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत झुरझुरा उठी; इधर भंग उधर घटा, बहार-में-बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया। बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़-धड़धड़ होने लगी; देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई, 'बम भोला' कहके शर्माजी ने एक लोटा-भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल-डिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूंदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़धड़-तड़तड़ के शब्द ने

कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोंकों से किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे के टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के किवाड़ खोलकर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंके ने दस-बीस बूंदों और दो-चार ओलों से शर्माजी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के भीतर भी ओलों की एक बौछार पहुँची। फुरती से किवाड़ बन्द किए, तथापि एक शीशा चूर हुआ समझ में आ गया कि ओलों की बौछार चल रही है। इतने में टन-टन करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान, टीन और ओलों के सम्मिलन की ठनाठन का मधुर शब्द सुनने लगे। आँखें बन्द, हाथ-पाँव सुख में। पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था।

गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुरती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरों में चले गये होंगे, पर वह चीलें कहाँ गई होंगी? ओलों से उनके बाजू कैसे बचे होंगे? जो पक्षी इस समय अपने अण्डे-बच्चों समेत पेड़ों पर पत्तों की आड़ में हैं या घोंसलों में छिपे हुए हैं, उन पर क्या गुजरी होगी? ज़रूर झड़े हुए फलों के ढेर में कल सवेरे इन बदनसीबों के टूटे अण्डे, मरे बच्चे और इनके भीगे-सिसकते शरीर पड़े मिलेंगे। हाँ, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सैकड़ों अट्टालिकाएँ शून्य पड़ी हैं। उनमें सहस्रों मनुष्य सो सकते, पर उनमें ताले लगे हैं और सहस्रों में केवल दो-दो चार-चार आदमी रहते हैं। अहो, तिस पर भी इस देश की मिट्टी से बने हुए सहस्रों अभागे सड़कों के किनारे इधर-उधर की सड़ी और गीली भूमियों में पड़े भीगते हैं, मैले चिथड़े लपेटे वायु, वर्षा और ओलों का सामना करते हैं। सवेरे इनमें कितनों ही की लाशें जहाँ-तहाँ पड़ी मिलेंगी। तू इस चारपाई पर मौजें उड़ा रहा है।

आन-की-आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? कोई हर्षसूचक बात दस-बीस पलक के लिए चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिये। प्यारी, भंग! तेरी कृपा से कभी-कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। इसी से तेरा सहयोग अच्छा समझा है, नहीं तो यह अधबूढ़ा भंगड़ क्या सुख का भूखा है! घावों से चूर जैसे नींद में पड़कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी-कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है। जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी, इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी—भादों कृष्णा अष्टमी की अर्धरात्रि। चारों ओर घोर अन्धकार। वर्षा होती थी, बिजली कौंधती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये, मथुरा के कारागार से निकल रहा था। शिशु की माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को भूलकर दुःख से विह्वल होकर चुपके-चुपके आँसू गिराती थी। पुकारकर रो भी नहीं सकती थी। बालक उसने उस पुरुष को अर्पण किया और कलेजे पर हाथ रखकर बैठ गई। सुध आने के समय से उसने कारागार में ही आयु बिताई है। उसके कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आँखों के सामने मारे गये। यह अन्तिम बालक है। बड़ा कारागार, विकट पहरा, पर इस बालक को वह किसी प्रकार बचाना चाहती है। इसी से उस बालक को उसके पिता की गोद में दिया कि वह उसे किसी निरापद स्थान में पहुँचा आए।

वह और कोई नहीं, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। उसी को उस कठिन दशा में उस भयानक काली रात में वह

गोकुल पहुँचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदों को जीत लेती है; सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है। वसुदेव सब कष्टों को सहकर यमुना पार करके भीगते हुए उस बालक को गोकुल पहुँचाकर उसी रात कारागार में लौट आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रज का प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल का मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई; जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव, स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत-सन्तान के लिए तीर्थ हुआ। वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई—

वर जमीने कि निशाने कफे पाये तो बुवद।
सालहा जिसदमे साहिब नजराँ ख्वाद बूद॥

तब तो जल बुरी जगह नहीं है। 'पंजाबी' के स्वामी और सम्पादक को जेल के लिए दुःख न करना चाहिए! जेल में कृष्ण ने जन्म लिया है। इस देश को सब कष्टों से मुक्त करनेवाले ने अपने पवित्र शरीर को पहले जेल की मिट्टी से स्पर्श कराया। उसी प्रकार 'पंजाबी' के स्वामी लाला यशवन्तराय ने जेल में जाकर जेल की प्रतिष्ठा बढ़ाई, भारतवासियों का सिर ऊँचा किया, अग्रवाल जाति का सिर ऊँचा किया। मि० अथावले ने स्थानीय ब्राह्मणों का मस्तक ऊँचा किया जो उनके गुरु तिलक को अपने मस्तक का तिलक समझते हैं। सुरेन्द्रनाथ ने बंगाल की जेल का और तिलक ने बम्बई की जेल का मान बढ़ाया था। यशवन्तराय और अथावले ने लाहौर की जेल को वही पद प्रदान किया। लाहौर की भूमि पवित्र हुई। उसकी धूलि देश के शुभचिन्तकों की आँखों का अंजन हुई। जिन्हें इस देश पर प्रेम है, वह इन दो युवकों की स्वाधीनता और साधुता पर अभिमान कर सकते हैं।

जो जेल चोर-डकैतों, दुष्ट-हत्यारों के लिए है जब उसमें सज्जन, साधु, शिक्षित, स्वदेश और स्वजाति के शुभचिन्तकों के चरण स्पर्श हों

तो समझना चाहिए कि उस स्थान के दिन फिरे। ईश्वर की उस पर दया-दृष्टि हुई। साधुओं पर संकट पड़ने से शुभ दिन आते हैं। इससे सब भारतवासी शोक-सन्ताप भूलकर प्रार्थना के लिए हाथ उठाएँ कि शीघ्र वह दिन आए कि जब एक भी भारतवासी चोरी, डकैती, दुष्टता, व्यभिचार, हत्या, लूट-खसोट, जाल आदि दोषों के लिए जेल में न जाय। जाय तो देश और जाति की प्रीति और शुभचिन्ता के लिए, दीनों और पददलित निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचाने के लिए, हाकिमों को उनकी भूलों और हार्दिक दुर्बलता से सावधान करने के लिए और सरकार को सुमन्त्रण देने के लिए। यदि हमारे राजा और शासक हमारे सत्य और स्पष्ट भाषण और हृदय की स्वच्छता को भी दोष समझें और हमें उसके लिए जेल भेजें तो वैसी जेल हमें ईश्वर की कृपा समझकर स्वीकार करनी चाहिए और जिन हथकड़ियों से हमारे निर्दोष देश-बान्धवों के हाथ बँधे, उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि हमारे ईश्वर में इतनी शक्ति न हो कि वह हमारे राजा और शासकों को हमारे अनुकूल कर सके और उन्हें उदारचित्त और न्याय-प्रिय बना सके, तो इतना अवश्य करे कि हमें सब प्रकार के दोषों से बचाकर न्याय के लिए जेल काटने की शक्ति दे, जिससे हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारत के। इस देश के सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहें इसी देश में, चाहे जेल में, चाहे घर में, जब तक जियें यहीं जियें और जब प्राण निकल जायँ तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जाय

मज़दूरी और प्रेम

सरदार पूर्णसिंह

हल चलाने वाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाख-लाख दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण ज़मीन में गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नज़र आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते में, फूल-फूल में, फल बिखेर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की निरोगता इसी के हिस्से में है।

विद्या यह नहीं जानता; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते; ज्ञान-ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद, गिरजे,

मन्दिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से वह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ उसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात विधाता इसके हृदय में अचिन्तनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उनको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है?

दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बेमुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिये गौओं का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज

पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिये का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुंह नीचा किये हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफेद हैं और क्यों न सफेद हों? सफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेनाम है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरे फानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, घास की एक झोंपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे, इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे, इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध

है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है। इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगन्धि से सुगन्धित है। इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सफेद! अपनी सफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सफेद ईश्वर के दर्शन करता है—

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। ज़रा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते-देखते गल गई। पता नहीं, ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्द-रहित, संकल्प-रहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गई। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आये और झमझम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनन्द-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं; पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया। साथ ही धमधम-थमथम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानन्द का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जाएँ तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायें और ईश्वरीय झलक मैं देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेद-गान हो रहा है

उसे इस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूं, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूं। कहते हैं, ऋषियों ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मन्द-मन्द हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिये के परिवार की प्रेम-मज़दूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

मज़दूर की मज़दूरी

आपने चार आने पैसे मज़दूर के हाथ में रखकर कहा—'यह लो दिन-भर की अपनी मज़दूरी।' वाह क्या दिल्लगी है ! हाथ, पाँव, सिर, आँखें, इत्यादि सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीज़ें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आपके थे ? वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मज़दूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज़ ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मज़दूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र-भर के लिए विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज़ के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज़ याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज़ भरत-मिलाप का-सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सींती है, साथ ही वह अपने दुःख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला, रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज़ कल तैयार हो जाएगी; तब कुछ तो खाने को मिलेगा।

जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिये हुए है, कमीज़ घुटने पर बिछी हुई है। उसकी आँखों की दशा उस आकाश-जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त 'हे राम' कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज़ मेरे लिए शरीर का नहीं मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थयात्रा है। इस कमीज़ में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली आ रही है। ऐसी मज़दूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज़ से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मज़दूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है। रैफेल आदि के विचित्र चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतने सदियों के बाद भी, उनके अन्तःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का दर्शन ही नहीं, किन्तु साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यन्त्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव-से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज़ में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई चीज़ में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ, उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन के बन्द किये हुए अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज़ में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से

मिल जाती है और उसमें मुर्दे को ज़िंदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं—क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए सूखे-रूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रिया ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल क्या पीता हूँ, प्रेमामृत का पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है!

उधर प्रभात ने अपनी सफेद किरणों से अँधेरी रात पर सफेदी-सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सफेद आटा बना लिया। इस सफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा; दूसरे हाथ में मक्खन की हाँडी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक और बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है, तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नज़र आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से अधिक आनंद-दायिनी लालिमा देख पड़ती है। वह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो

हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चांदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाए, तो फिर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं। मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिर्जे में क्या रखा है! ईंट, पत्थर, चूना कुछ भी कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के साथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिन्तन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तन अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम-से-उत्तम और नीच-से-नीच काम, सब-के-सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिन्तन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नपायन नहीं। उसमें पुराने ज़माने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशलपूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि

वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मज़दूरों के हृदय से निकलेगा। उन मज़दूरों के कंठ से नई कविता निकलेगी जो अपने जीवन में आनन्द के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी के रगों का, पत्थर की नसों का भेद-भाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेज़बान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दसों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मज़दूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कल-रूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नये कवि पैदा होंगे, तभी नये औलियों का उद्भव होगा। परन्तु ये सब-के-सब मज़दूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मज़दूर ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मैं हज्जाम हूँ

●

शिवपूजन सहाय

मैं हज्जाम हूँ। अच्छी हजामत बनाता हूँ। जी लगाकर बना दूं तो केश रखवारे तक न पनपें—रोएँ भी न अँकुरें। मगर जी लगता नहीं जब तक मेरे छुरे को 'छप्पन छुरा'—कोई छैल-छबीला—नहीं मिलता। मिल गया तो छुरा रसे-रसे चलने लगता है। अगर संयोग से कोई गण्डपाताली मिल गया तो छुरा छूटकर चल पड़ता है। इसलिए कपोलपाताली मेरे ढिग फटकते ही नहीं। मेरी उन्मादिनी उँगलियाँ जब गालों को गुदगुदाने लगती हैं तब रसज्ञों को नींद आने लगती है।

नीतिशास्त्रानुसार शस्त्रधारी कभी विश्वसनीय नहीं होता; किन्तु मेरे शस्त्रसज्जित 'लोखर' को देखकर बड़े-बड़े राजा-रईस और सेठ-साहूकार बड़ी आस्था के साथ मेरे छुरे के आगे गर्दन झुका देते हैं। जो सारी दुनिया को उलटे छुरे से मूंडते हैं, उन्हें मैं सीधे छुरे से ही मूंड डालता हूँ—मनमाने पैसे भी गिना लेता हूँ और मन-मनाकर ठोठ भी मसल देता हूं।

किसी सशस्त्र व्यक्ति के हाथ में कोई विश्वासपूर्वक अपना सिर नहीं सौंपता, पर मेरे 'विश्वसनीयमायुध' के सामने सब-के-सब स्वतः आत्म-सम कर देते हैं—मेरे स्पर्शसुखावह छुरे को अपना गला सौंपने में कभी

कोई हिचकता नहीं, यहाँ तक कि मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई रंचमात्र भी टस-से-मस नहीं होता !

जिस समय मनचाहा व्यक्ति मिल जाता है, उस समय मेरी नृत्य-शीला अँगुलियाँ मन्थर गति से अपना लोच दिखाने लगती हैं। मेरी अँगुली-अंगनाओं के अभिनय के लिए कमनीय कपोल ही रमणीय रंगमच है। मेरी भाव-भंगिमा-भरी कनक शलाका-सी अँगुलियों के लिए चितचोर चिबुक ही 'सुचि रुचिर कसौटी' है।

किन्तु मैं कपोलानन्दी होकर भी सर्वथा निर्लिप्त और अनासक्त हूँ; इसलिए मैं प्रमदाओ का प्रतिद्वन्द्वी नहीं कहला सकता। हाँ, 'ठग' और 'चोर' के बीच का 'ठाकुर' अवश्य हूँ; इसलिए 'ठसक' के साथ कह सकता हूँ कि 'ठाकुर' का 'भोग' कभी 'जूठा' नहीं कहलाता, 'प्रसाद' कहा जाता है। न भौंरा फूल का जूठा करता है, न चींटी चीनी को। यदि सोच-समझ-कर देखिए तो मैं ललनागण की सुखवृद्धि का साधक हूँ।

याद रहे, मैं 'हाथरस' का हज्जाम हूँ: मगर रहता हूँ 'बनारस' में। 'ब्रजवसिया' और 'बनरसिया' होने के कारण ही तो 'रसिया' हूँ। सचमुच मेरे हाथों में ही 'रस' है। टटका-टटका दे दूं तो टकटकी बँध जाय और टटोल-टटोल टीप दूँ तो विरही की हराम नींद भी चुपके से चली आवे।

मैंने जैसे स्पृहणीय श्वास-सौरभों का रसास्वादन किया है, वैसे तो बहुतों को नसीब न होंगे। जिन मानिनी मूँछों तक बड़े-बड़ों के हाथ नहीं पहुँच सकते उनको कुकुर-पूँछ बनाने के लिए मेरे हाथ बड़े कौशल के साथ सरसते-बिलसते हैं। हाँ जनाब 'लोखर' लिये फिरने के कारण मुझे निरा 'लोफर' हो न समझिये।

नेत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय—तीनों का (त्रिविध) सुख मैं एक साथ ही लूटता हूँ; इसलिए मैं सौभाग्यशाली भी किसी से कम नहीं हूँ। मेरी अनुभूतियाँ यदि किसी कवि को हाथ लग जायँ तो उसमें 'बिहारीलाल' की आत्मा चहक उठे।

'आदमी में नौआ, पंछी में कौआ'—इस प्रसिद्ध कहावत के अनुसार

मेरी धूर्तता भी जग-जाहिर है। इसलिए वर्तमान युग में सर्वत्र मेरी जाति का बोलबाला है। सभी देशों और क्षेत्रों में मेरी जाति के लोग पाये जाते हैं। भले ही वे जन्मना हज्जाम न हों; पर कर्मणा तो निश्चय ही हैं। मेरे छुरे से घुटी हुई दाढ़ी तो पनपती भी है, पर कर्मणा हज्जाम—क्षौर व्यवसायी (मुण्डन-मर्चेण्ट)—जिसकी हजामत बनाते हैं उसकी चाँद गंजी कर डालते हैं—एक-एक खूँटी उखाड़ लेते हैं। फिर उसके सफाचट चेहरे पर बाल उगते ही नहीं। मानव-जाति के भाग्य के हरे-भरे क्षेत्र को चर जाने वाले ये 'वैशाख-नन्दन' वस्तुतः 'दूर्वाकन्दनिकन्दन' हैं। इनकी चरी हुई खेती कभी फलती नहीं; इनके मूँडे हुए सिर सदा के लिए 'लुण्ड-मुण्ड' बन जाते हैं।

आजकल हजामत का पेशा बहुतों ने अपना लिया है। आँखें खोलकर चारों ओर देख लीजिए। यदि कोई नयी उमंग का नेता है तो निस्सन्देह नापित भी है; क्योंकि जनता की हजामत बनाना ही उसका बँधा रोज़गार है। दुनिया की सरकारें प्रजा की हजामत बनाती हैं। निरंकुश लेखक भाषा की हजामत बनाता है। स्वयंभू कवि छन्दों की, डॉक्टर मरीज़ों की, वकील मुवक्किलों की, टिकट-चेकर मुसाफिरों की, दूकानदार ग्राहकों की, पण्डा तीर्थयात्रियों की, समालोचक लेखकों की, सम्पादक पुरस्कार की, प्रकाशक पाठकों की और अनुवादक मूल भावों की हजामत बनाता है। कहाँ तक गिनाऊँ, सब तो हज्जाम-ही-हज्जाम हैं। तब भी, विज्ञापन-दाताओं से बढ़कर होशियार हज्जाम नहीं नज़र आता। इन लोगों ने कचहरी के अमलों के भी कान काट लिये हैं। हाँ, ऊँचे इजलास की कुरसी तोड़नेवाले भी अब न्याय को खूब मूँड रहे हैं—निगोड़ी तोपें भी किलों की वैसी कपालक्रिया नहीं कर सकतीं। ये लोग अफगानों के हज्जाम हैं। स्वनामधन्य बाबू रामचन्द्र वर्मा ने अपनी 'अच्छी हिन्दी' पुस्तक में एक स्थल पर लिखा है कि अफगान लोग हज्जाम को 'सरतराश' कहते हैं और उनके यहाँ हज्जामों की दूकानों की तख्तियों पर 'हेड-कटर' लिखा रहता है।

बलिहारी है 'शेविंग स्टिक' और 'ब्लेड' के आविष्कर्त्ता की, जिसने सभी सुशिक्षितों को हज्जाम बना दिया है। इससे मेरी जाति की रोजी में खलल ज़रूर पड़ा है, लेकिन एक काम बड़े मज़े का हुआ है—कामिनियाँ विशेष लाभान्वित हुई हैं—वे ही असीसती होंगी आविष्कर्त्ता को ! मूंछ तो अब मर्दानगी की पूँछ मात्र है। इस युग में भला मूँछ की मर्यादा ही क्या है? जब थी, तब थी। अठारहवीं सदी के आरम्भ में 'भरमी' कवि ने ठीक ही कहा था—

जिन मुच्छन धरि हाथ,
कछू जग सुजस न लीनो।
जिन मुच्छन धरि हाथ,
कछू पर-काज न कीनो।
जिन मुच्छन धरि हाथ,
दीन लखि दया न आनी।
जिन मुच्छन धरि हाथ,
कबौं पर-पीर न जानी।
अब मुच्छ नहीं वह पुच्छ सम,
कवि 'भरमी' उर आनिए।
चित दया दान सनमान नाँहि,
मुच्छ न तेहि मुख जानिए।

चिर जागृत :
हम कभी सोया नहीं करते !

●

माखनलाल चतुर्वेदी

"ईश्वर करे किसी को मोटा शरीर न मिले," साँप ने कहा ।

"ईश्वर क्या करे तब ?" गधे ने पूछा ।

उसी समय हवा का झोंका सिर पर मँडराते हुए चम्पक के फूलों को ज़मीन पर गिरा गया ।

आम्र-वृक्ष की बौरती डाली पर मर्कट अपनी अभिनय-प्रियता से महकता वैभव भूमि पर बिखेरकर अपनी हलचल के परिणाम से इतने बेखबर कि किसी के तारुण्य का सम्पूर्ण वैभव लूटकर, गोद का नन्हा-सा धन जैसे बेखबर हो ।

साँझ का उजला अँधेरा अपने प्रकाश-पराजित नभ की चादर जब धीरे-धीरे रूप की रानी के बिस्तर पर ओढ़ाने लगा तब रूप और आकार के व्यापार एकाकार में विलीन होकर इस तरह छिपने लगे, मानो दिन की दौड़ को रात्रि ने अन्तर्धान का आमन्त्रण भेजा हो ।

सूरज की सहस्र-सहस्र किरणों की पराजय पर तारे यों हँस उठे जैसे अमरीका के कोट्यधीश कार्नेगी को किसी दिन रेल का टिकट न मिलने पर साउथम्पटन स्टेशन का पोर्टर हर्षित हो रहा हो ।

अपने अन्धकार का बोझ अनुभव कर ठीक इसी समय किसी ने चाहा . 'तारे अपने होते', वे मेरे अपने बहुत निकट होते, यहीं।

'तारे अपने होते ?' जिनके अस्तित्व पर से ही सन्देह के धब्बे न धुल पाये हों, उनके आसमान से ज़मीन पर उतरने की भोली इच्छा ?

तब क्या अन्धकार जीवन का सत्य है ?

साँप उस समय रंगहीन हो चुका था—अपने अस्तित्व पर आवरण लेकर !

गधा अपने स्वर से लाचार था। इसी समय श्री इन्द्र भगवान् की कृपा के बिन्दु तारों के लोक से शीतल सन्देशा लेकर रिमझिमा उठे !

अन्धकार ने सन्नाटे के रूप में अपना परम तारुण्य जताया !

साँप ने सेहत की फुंकार ली—सुरक्षा मानकर।

'गधे शरीफ़' कान ऊँचे किये 'उच्चैःश्रवा' का पुण्यपाठ कर उठे !

और इसी समय किसी ने पूजा की पुस्तक उठाकर पश्चिम में डूबते प्रकाश-पुंज से पूछा, "क्या तुम इतने असहाय हो जी ?"

छोटे-से मोम-दीप ने कहा, "मैं जो हूँ मेरा भी छोटा-सा अस्तित्व है रानी !"

गर्दभ-स्वामी तन उठे ! छोटी-सी मोम-दीपिका की अमित-वीर्य अन्धकार के ख़िलाफ़ यह हिम्मत !

साँप अपनी बाँबी से बाहर आकर कुण्डली मारकर मोम-दीप की मूर्खता का रसास्वादन करने बैठ गया।

अनन्त कालिमा के अंग पर मोम-दीप का छोटा-सा जलता हुआ विद्रोह, चिन्ता की नहीं तमाशा देखने-भर की चीज़ है।

कमरे में खेलती हुई नन्हीं बालिका ने हिम्मत-सी हारते हुए फिर पूछा, "अब तुम क्या करोगे मोम-दीप ?"

"प्रकाश-दान।"

"तुम ?"

"जिसके प्राणों में लग उठती है, उसकी जलन में लौ अपने-आप होती

है रानी !"

"किन्तु यह खर और वह वासुकि दोनों तो इतने उपेक्षाशील हैं, तुम्हारे प्राण-दान पर !"

"उनकी निर्भयता उनके अनन्त अज्ञान पर ठहरी हैं अनामिके ! अन्ध-अश्रद्धा से पराजित ये, श्रद्धा के नन्हे-से प्रकाश को भी अन्धकार ही मानते हैं।"

"तब 'अभाव के अभाव' का अस्तित्व क्या तुम्हारी ही जागीर है ?"

"जागीर; अपने अस्तित्व को मिटा डालने में जागीर कैसी ?"

"यह मिटा डालना क्या तुम्हारी लाचारी है ?"

"ना भाग्ये ! मैंने तो अपना बल समझकर ही अपने में आग लगाने का भाग्य पाया है।"

"किसलिए यह ?"

"जिससे सूर्य के उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए, अपनी शक्ति पर मेरा अस्तित्व काम आ सके।"

"अपनी सीमा तक से अज्ञान, तुम ! यह क्या कह रहे हो ?"

"सूरज आकाश में अकेला पड़ गया रानी ! उसके भाग्य में यह पराजय, उसके अभाव में यह अन्धकार, यह तो गणित से बिना पूछे भी बोल रहा था।"

"और तुम्हारा अकेलापन ?"

"ना, अल्पत्व अकेला होता ही नहीं; उसकी अधिकता को ही गुण कहते हैं महामाया !"

"यानी ?"

"यही कि मेरे चुकने के साथ, लगातार मोम-दीप, अपने अस्तित्व की कुर्बानी का प्रकाश जारी रखेंगे।"

"कब तक ?"

"वे सूरज की प्रथम किरणों को अपना उत्तरदायित्व सौंपेंगे। याद ने मुझ की पलकों के पट खोले, मानो कोमल हाथों ने कला के पृष्ठ खोले।"

दीप रस बिखेरकर जलने लगा; जलना और बिखरना दोनों बेक़ाबू व्यापार मानो यात्री थे कि चल पड़े। साँप चुपचाप बाँबी की ओर बढ़ा और शीतलावाहन नीचे कान लटकाकर खड़े रहे।

आकाश पर राग आने को हुआ कि भैरवी के स्वर आये; राग भैरव को अपनी कोमल घड़ियों के स्वर देकर उपाराग, अंगराग के साथ अनुराग-सा खिल उठा।

बलि में दीपों की गिनतियाँ अनगिनतियाँ बन गयीं, पतंगों ने पतझड़ बनकर रूप के देवता के ज्ञान-पथ पर अपने अस्तित्वों की सहस्र-सहस्र कहानियाँ मसलकर फेंक दीं।

और उस दिन चौदहवीं अगस्त की आधी रात को आये, मोम-दीपों के लघु-लघु, कोटि-कोटि मरण को वरण कर, मुक्ति की युग-बालिका की नन्हीं-सी आरती में अँगड़ाई लेकर, डग बढ़ाते-से, प्रकाश के देवता—'स्वातन्त्र्य'।

बचपन कूका, जवानियाँ निहाल हुईं, वृद्धत्व झिझका और सन्तोष की साँस ली।

किन्तु···शेष बचे मोम-दीपों ने कहा, "हम कल के इतिहास ही नहीं, आज की ज़रूरत और आनेवाले युगों-युगों की माँग हैं। हममें जिस दिन चाहो आग सुलगाकर बलि की वेदियाँ फलवती कर लेना। चिर जागृत : हम कभी सोया नहीं करते।"[१]

१. गधा और साँप ब्रिटिश युग का बोझ ढोने वाली और परनिन्दा विष-भरी जन-प्रवृत्तियों के क्रमशः प्रतीक हैं। (क) सूर्य स्वतन्त्रता का प्रतीक है। (ख) मोम-दीप स्वातन्त्र्योन्मुख प्रयासों का प्रतीक है और (ग) बालिका भारत माता का प्रतीक।

मेरा जीवन-बीमा

●

गुलाब राय

लोगों का कथन है कि दो अत्यन्त प्रतिकूल बातें अन्त में आकर मिल जाती हैं। यह युग जितना ही क्रियाशील है उतनी ही इसमें बेकारी बढ़ी हुई है। जिस प्रकार दीपक से कज्जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रिया निष्क्रिया की उत्पादक बन रही है। बेकारी का प्रश्न तो कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी के समय से चला आता मालूम होता है, क्योंकि उन्होंने कहा है कि—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को न बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सौं कहाँ जाइ, का करी।"

तब तो राम-भजन से समय कट जाता था और बेकारी नहीं अखरती थी। बेकारी को मानते हुए गोस्वामीजी ने दो काम भी बता दिये थे। "खाने को टुकड़ा भलो, लेने को हरिनाम" लेकिन अब तो टुकड़े में भी हानि आ गई है और रामजी का नाम कुटिल कलि-काल के कुचक्र से अन्य सद्धर्मों की भाँति लुप्तप्राय हो गया है। अब श्री गोस्वामीजी ने अपने कथन में स्वयं ही निम्नलिखित संशोधन स्वर्ग से वायरलेस द्वारा भेजा

है—"खाने को धक्का भलो, लेने को विश्राम"। महात्मा तुलसीदासजी के इस नैराश्य को देखकर एक मनचले महाशय ने उसमें यह अन्तिम संशोधन कर दिया है—

तुलसी या संसार में, कर लीजे दो काम।
इक चुंगी की मेम्बरी, अरु बीमा को काम ॥

वास्तव में बीमा के काम ने इस युग में बहुत लोगों को ज़ाब्ता फौजदारी की १०७, १०८, १०९ या ११० दफा के चंगुल में आने से बचा दिया है। यद्यपि यह संदेह है कि बीमा के काम से निश्चित रूप से रोटियाँ मिलती हैं या जेल की चहारदीवारी के भीतर? अस्तु, रोटियाँ चाहे मिलें या न मिलें, बिना किसी योग्यता के लोग 'एजेण्ट' की पदवी से विभूषित हो जाते हैं। आजकल सेवा-धर्म बढ़ जाने से अथवा यों कहिए कि डॉक्टरों की संख्या में बढ़ती के कारण साधारण लोगों में फीस देना ऐसा ही बन्द हो गया है जैसा कि दान-धर्म। किन्तु कम्पनियों की बदौलत डॉक्टरों को पूरी-पूरी फीस के दर्शन हो जाते हैं। अखबार वाले भी कुछ थोड़े-से बीमा सम्बन्धी विज्ञापन प्राप्त कर बीमा कम्पनियों की खैर मनाते हैं।

बीमा कम्पनी की एजेन्सी मिल जाना कठिन बात नहीं किन्तु पॉलिसी खरीदनेवाला आदमी मिलना इतना सहज नहीं है। जमींदार लोग तो पुश्त-दर-पुश्त के लिए निश्चित है (यदि यह महारोग उनको कालकवलित न करे और कांग्रेसी राहु उन्हें न ग्रस ले)। और महाजन लोगों को बेचारे काश्तकार सलामत चाहिए, उनकी दिन-दूनी रात-चौगुनी ब्याज पक्की है। फिर वे बीमा जैसी संदिग्ध संस्था की क्यों परवाह करें? अब रह गये बेचारे नौकरी-पेशा और बेकार लोग। नौकरी-पेशा अवश्य कभी-कभी बीमावालों के चक्कर में आ जाते हैं। जहाँ उनसे कहा गया कि देखिए कम्पनी कितनी जोखिम (रिस्क) लेती है और जहाँ उनके सामने आजकल की नई-नई बीमारियों के भयंकर दृश्य अंकिन किये अथवा भूचालों, साम्प्रदायिक दंगों और रेल-दुर्घटनाओं की करुण-कथा सुनाई, वहाँ उनके हृदय में बीमा कम्पनी के लिए कुछ स्थान हो गया। और जब

उनको बतलाया गया कि वैसे तो आप कुछ नहीं बचा पाते किन्तु इसके कारण आप अनिवार्य रूप से मितव्ययिता (Compulsory Saving) कर सकेंगे, वहीं उन पर जादू पूरा असर कर जाता है। किन्तु वे लोग समयाभाव के कारण सहज में हाथ नहीं आते। उनके पीछे जब कोई हाथ धोकर सत्तू बाँधकर पड़ जाय तब कहीं उनसे साक्षात्कार हो पाता है। और यदि वे फैशन-भक्त हुए तो उनके ऊपर अनिवार्य मितव्ययिता का उसी तरह असर नहीं होता जैसा सती के हृदय पर कामी पुरुषों के वचनों का।

बेकार लोगों में दो श्रेणियाँ हैं—प्रथम श्रेणी में तो वे शुद्ध निर्लेप बेकार हैं जिनको न काम से काम है और न दाम का नाम ही सुनाई पड़ता है। दूसरी में वे लोग हैं जिनके पास कुछ काम तो नहीं है किन्तु जीवन के पहले भाग में किये हुए सत्कर्मों के फलस्वरूप मास-प्रति-मास कुछ कलदार आ जाते हैं। ये लोग बेकारी के पवित्र नाम को बदनाम करते हैं। पहले प्रकार के लोगों के तो पास जाने का भी बीमा कम्पनी वालों को साहस कहाँ? क्योंकि उनमें से प्रत्येक बीमा कम्पनी के एजेंट बनने की प्रबल सम्भावना रखता है। एक पेशे के लोग कभी प्रेम से नहीं रह सकते —'याचको याचकं दृष्ट्वा श्वानवत् गुरगुरायते।' दूसरे प्रकार के लोगों के पास जाने का वे थोड़ा-बहुत साहस करते हैं। किन्तु उनकी पचपनसाला आयु देख उनसे इतने शंकित हो जाते हैं जितना कि काले कपड़े से एक ग्रामीण बैल। किसी-न-किसी क्षेत्र में श्वेत केशवालों को केशव की भाँति ही पछतावा करना पड़ता है। वे लोग तो शायद अपनी जान का सौदा करने को सहज में तैयार हो जायँ किन्तु एजेण्ट लोग उस सौदे को सहज में नहीं स्वीकार करते। बीमा कम्पनियों के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश मैं एक ऐसा जन्तु था जो पेंशनयाफ़्ता होता हुआ भी पचास साल से कम आयु का था।

जहाँ अड़ोस-पड़ोस के लोगों को मेरी परिस्थिति मालूम हुई वहाँ एजेंण्टों ने मेरा पीछा करना शुरू किया। करीब-करीब उसी लगन से जिससे कि क्वाँरे ग्रेजुएट को अविवाहित लड़कियों के पिता, भाई आदि।

मेरे पास कोई ऐसा दुर्ग न था जहाँ जाकर छिप जाता। बीमे के प्रस्ताव होने लगे। सोते-जागते, उठते-बैठते, टहलते, दिन-रात बीमा की चर्चा होने लगी। दो-एक एजेण्ट तो आपस में वाक्‌युद्ध भी करने लग जाते थे। बीमे के प्रस्तावों के कारण मेरी नींद हराम हो गई। जान का बीमा क्या था, जी का जंजाल हो गया। औरों से तो जैसे-तैसे पीछा छुड़ा पाया किन्तु एक महाशयजी मेरे पड़ोस में रहते थे, उनसे पीछा न छुड़ा सका। इत्तफाक से वे ब्राह्मण भी थे। फिर क्या था? मैं गिरधरजी के शासन में आ गया—विप्र और पड़ोसी को तरह देनी ही पड़ती है।

मैंने उनसे पूछा—"आप काहे का बीमा करना चाहते हैं?" उत्तर मिला 'जान का'। मैंने कहा कि भाई, मैं अपनी जान कहीं पारसल करके नहीं भेजना चाहता जो बीमा कराऊँ। मुझसे कहा गया कि बीमा करा-कर आप भविष्य के लिए निश्चिन्त हो जायँगे। मैं भली प्रकार जानता था कि चिता और चिन्ता में एक बिन्दी का अन्तर है और चिता में जलने के लिए कुछ अभ्यास भी चाहिए था। इसलिए चिन्ता को, जो मेरे जीवन की चिरसंगिनी थी, सहज में परित्याग करना नहीं चाहता था, लेकिन 'अर्थी दोषं न पश्यति।' एजेण्ट महोदयों पर मेरी युक्ति का इतना भी असर नहीं हुआ जितना कि तवे पर बूंद का। बाबा तुलसीदासजी के शब्दों को लौट-फेर सकूँ तो कह दूँ—बुन्द अघात सहें गिरि जैसे। उन्होंने मेरी सम्मति—ठीक तो यों है कि मौन-रूपी अर्ध-सम्मति—प्राप्त कर ली। मेरे सामने फार्म रख दिया गया और मैंने ५०००) के लिए आँख बन्द करके दस्तखत कर दिये। ५०००) से कम का बीमा कराना मैं अपनी शान के खिलाफ समझता था क्योंकि अगर कभी इज्जत-हतक का मामला चलाना हुआ तो ५०००) से अधिक का दावा कर सकूँगा। इज्जत जान से ज्यादा मूल्य रखती है। दस्तखत तो सहज में हो गये किन्तु जिस प्रकार विवाह कर लेना आपत्तियों का आरम्भ है, उसी प्रकार दस्तखत कर देना भी आपत्तियों को मोल लेना था।

दस्तखत के पश्चात् ही मुझसे पूछा गया कि आपकी जन्मपत्री कहाँ

है ? मैंने कहा—क्या आप पाराशरी अथवा बृहज्जातक के अनुकूल मेरी आयु का निर्णय कराना चाहते हैं ? उन्होंने कहा—भविष्य की नहीं वरन् वर्तमान की । मैं तो यह समझता था कि जिस प्रकार उस बीमा के व्यवसाय ने एजेण्टों, डॉक्टरों और अखबारों को रोज़गार दिया है उसी प्रकार शायद बीमा कम्पनियाँ ज्योतिषियों को भी आजीविका देंगी । आजकल अंग्रेज़ी पढ़ जाने के कारण लोग ज्योतिषियों से काम नहीं लेते हैं । जब सनातनधर्मी लोग इस ओर ध्यान देंगे और शुद्ध सनातनधर्मियों की बीमा कम्पनी बनेगी तब डॉक्टरों की अपेक्षा ज्योतिषियों की परीक्षा को अधिक महत्त्व दिया जाएगा किन्तु अभी तो डॉक्टरों की ही चलती है ।

यदि बीमा कम्पनियों को ज्योतिष में विश्वास होता तो मैं डॉक्टरी परीक्षा से बच जाता । किन्तु वृथा प्रलाप से क्या लाभ ? मेरी नाप-तोल की गई, मानों मैं कोई क्रय-विक्रय की वस्तु था । मुझे तुला तक पर बैठाया गया । यदि तुला कराई गई होती तो बेचारे ब्राह्मणों का भला होता । मालूम नहीं, तुला पर बैठकर मुझे तुलादान का फल मिलेगा या नहीं ? मेरी छाती, कमर, पैर सबका नाप हुआ । जब दर्जी नापता है तब तो यह सन्तोष रहता है कि नया सूट पहनने को मिलेगा, किन्तु यहाँ क्या रखा था ? बीमार की भाँति पलँग पर लेटना पड़ा । वैसे तो मेरा शरीर रोगों का अड्डा बना हुआ था क्योंकि आजकल 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' के स्थान में 'रोगेणान्ते तनुत्यजाम्' का पाठ हो गया है । किन्तु मैं बहुत-से रोगों के बारे में डॉक्टर की आँख में धूल झोंकने में सफल हुआ । एक लम्बी-चौड़ी प्रश्नावली का उत्तर देना पड़ा । यदि सब बातों का बिलकुल सच्चा-सच्चा उत्तर दिया जाय तो स्वयं भगवान् धन्वन्तरि भी डॉक्टरी की परीक्षा में फेल हो जायँ । मैंने अदालत के सत्य-मूर्ति गवाह की भाँति सच और बिलकुल सच के सिवाय और सब-कुछ नहीं कहा । लेकिन बकरे की माँ कब तक खैर मना सकती है, मेरे शरीर के अंग-प्रत्यंग ने मेरे विपरीत गवाही दी ।

जब मकनपुर या बटेश्वर की हाट में खरीदे जानेवाले बैल या बछड़े

की भाँति मेरे दाँत देखे गये तो टूटे हुए दाँत को न छिपा सका। मैं तो इस बात में महात्मा गांधी से समानता करके मन खुश कर लेता था। शुष्क-हृदय डॉक्टर लोग इसे वार्द्धक्य का चिह्न समझते हैं। और स्थान में वृद्ध लोगों का आदर होता है, किन्तु कलियुगी बीमा कम्पनी वाले वयो-वृद्ध लोगों का आदर नहीं करते। डॉक्टर बेचारे को भी मेरा केस पहला ही मिला था। वे सत्यवक्ता होने की धाक जमाना चाहते थे। मैं फेल होता या पास, उन्हें फीस से काम था।

मैं दाँत के सम्बन्ध में युधिष्ठिरी सत्य भी बोला, लेकिन उन्होंने एक न मानी। उन्हें तो टके सीधे करने से काम था, 'मुर्दा चाहे इस घाट जाय चाहे उस घाट जाय बन्दे को कफन से काम।' हाँ बेचारे एजेण्ट महोदय मेरी परीक्षा की सफलता के लिए उतने ही उत्सुक थे जितना कि मैट्रिक का परीक्षार्थी अपने शुभ फल के लिए। यदि मेरा बीमा हो जाता तो शायद मेरे बच्चों को तो मेरे मरने के पश्चात् ही धन प्राप्त होता किन्तु एजेण्ट महोदय का कमीशन पक्का था। ५०००) का बीमा हो जाने से उनकी कम्पनी में उनका कुछ आदर भी होने लगता। डॉक्टर ने मेरे सामने बहुत चिकनी-चुपड़ी बातें कहीं और मुझे विश्वास हो गया कि शायद मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। मैं निर्भय जीवन व्यतीत करने का स्वप्न देखने लगा। एवरेस्ट की चोटी पर जाने तक के मन्सूबे बाँधने लगा। हिन्दू-मुस्लिम दंगों में शामिल होकर नेता बनने की भी आशा करने लगा। किन्तु मन-चीते क्या होता है, प्रभु का चेता होता है। थोड़े ही दिन पश्चात् बड़ा शिष्टाचारपूर्ण पत्र मिला कि यद्यपि हम इस बात के आपके आभारी हैं कि आपने हमारे यहाँ बीमा कराने का निश्चय किया था, तथापि हमें खेद है कि आपका प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सकते। पहले तो कुछ आघात-सा लगा लेकिन फिर मन को समझा लिया कि आँख फूटी पीर गई। बार-बार त्रैमासिक रुपया भेजने के भार से बचा। बच्चों के लिए तो निश्चिन्त हो जाता किन्तु प्रीमियम भेजने की चिन्ता तो मुझे शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुँचा देती।

फिर मैंने अपना निश्चय बदल दिया कि न मैं अब विज्ञान के लिए अपना बलिदान करूँगा, न धर्म के लिए और न देश और जाति के लिए। सुख की नींद सोकर अपना जीवन व्यतीत करूँगा। बस, मैंने सोच लिया कि नाखून और सर के बाल कटाकर आत्म-बलिदान का आत्म-तोष प्राप्त कर लिया करूँगा। सर न सही तो सर के बाल ही सही।

बीमा कम्पनी वाले शायद इस सिद्धान्त को नहीं जानते कि रोगी लोग ही चिरजीवी होते हैं क्योंकि उनको रोग के कारण अपना जीवन नियमित रखना पड़ता है। मुझे आशा है कि भले स्कूल के लड़के की भाँति अपना जीवन नियमित रखकर जान-बूझकर आग में न कूदूँगा और हनुमान बाबा, अश्वत्थामा, लोमश ऋषि, भगवान् भवन-भास्कर सूर्यदेव और भूत-भावन मृत्युंजय महादेव कृपा करके मुझे दीर्घजीवी बना देंगे। रहा बाल-बच्चों का प्रश्न; उसके लिए मैंने सन्तोष कर लिया है कि 'पूत सपूत तो क्यों धन संचय, पूत कपूत तो क्यों धन संचय'! जीवन-बीमा के अंगूर मुझे अब खट्टे प्रतीत होते हैं।

वैसे नुकसान बीमा कम्पनी का भी रहा क्योंकि साठ वर्ष की अवस्था में पॉलिसी पकनेवाली थी। अब मैं उनसठ से ऊपर हो ही गया हूँ। मुझे भी अफसोस है कि डॉक्टर की अनुचित सतर्कता और ईमानदारी के कारण मकान बनाने के पश्चात् ५०००) अपनी पासबुक में देखने और गार्हस्थिक चिन्ताओं से मुक्त होने के सुख से वंचित हो गया हूँ।

अशोक के फूल

हजारीप्रसाद द्विवेदी

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को महाभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में और इसीलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम, दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और

सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था ! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिञ्जनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौगुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा-पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के इशारे पर कन्धे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका ? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हज़ार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज़ थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी ? कविता क्या सो गई थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्र वाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके !

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है ? ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित

यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पण्डितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुत: एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि काम-देवता का नाम हो गया है तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर आये थे। लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने वाले जीव नहीं। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्ध धर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त-साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गन्धर्व आये—न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की है, चम्पा की भी है। तब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया और, वामन पुराण की गवाही पर, हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती

पर गिरा और चम्पा का फूल बन गया ! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल पुष्पों में मरिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई। स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं।

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का रहस्य क्या है ? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं ? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले ?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं—यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुबेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं; तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गए हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं। यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं,

केवल कटि-देश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं!

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब-कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि-जात मान ली गई। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पण्डित 'पुनालुअन सोसायटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम। परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व-स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार-वाणिज्य वाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का सन्धान जानते थे,

पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्ती काल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे। परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वे सब पुरानी बातें क्यों रटी जाएँ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने ज़माने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही में मित्र बन गईं उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालू आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बड़ी अद्‌भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों में बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राजघरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हल्की रुनझुन

और ऊपर लाल फूलों का उल्लास ! किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-सम्भार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अंजलि बिखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है ? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है ? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते है, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है !

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य ढह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्ताप-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज़्ज़त घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया !

मुझे मानवजाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हज़ारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जानें कितने ग्रहण और त्याग का रूप

है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब-कुछ में मिलावट है, सब-कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अवाधित-अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है; पर इस दुर्दम धारा में सब-कुछ बह जाता है। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का गर्व-खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जाएगा, कौन जानता है! मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जाएगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जिएँगी और कितनी बह जाएँगी, कौन जानता है! मैं क्या शोक से उदास हुआ हूँ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्पों को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करने वाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो—'किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता-श्रवणार्पित:!'—परन्तु शाखाग्रों में लम्बित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस से

आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था वह लुप्त हो गई, धर्माचारियों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी वह वाष्प की भाँति उड़ गई, तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी। उनके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जाएगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन होगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये, शैव बह गये, शाक्त बह गये। उन दिनों 'श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था? कौन बतायेगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तवक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है!

मगर उदास होना भी बेकार ही है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं

बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ-घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का संवेग-धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो बदल गई। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से उसको देखनेवाला उदास होता है। वह अपने को पण्डित समझता है। पण्डिताई भी एक बोझ होती है—जितनी भी भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहाँ, अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती में झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे--अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!

बहस की बात

सियारामशरण गुप्त

बहुत गम्भीर समस्या थी। एक सज्जन कह रहे थे—यह घर पूर्व दिशा में है, दूसरे सज्जन का कहना था, ऐसा हो नहीं सकता। अपने गले के ज़ोर से उस घर को उठाकर ठेठ पश्चिम में रख देने की इच्छा उनकी थी। एक अंग्रेज़ कवि पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनों का यह दिक्-विपर्यय किसी एक-दूसरे से मिलना ही न चाहता था। अपने मध्य केन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमागरमी और तेज़ी से आगे बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था, परन्तु उनके मत नहीं। वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुवों की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे। ऐसे विकट प्रसंग में उस घर का प्राण-संकट टालकर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व में है और आपके यहाँ से पश्चिम। अतएव सही हैं तो आप दोनों और गलत हैं तो आप दोनों। परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम में जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व में, चरम परिपाक के बिना ही वह बहस यहीं शान्त हो गई—कम-से-कम ऊपर से तो हो ही गई।

डर मुझे यह कि अपने पाठक को मैंने नाराज़ कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी

शिकायत अवश्य की जाएगी। बहस कभी बिना बात-की-बात पर चल पड़ती है, यह मान लिया जाएगा। परन्तु क्या ऐसा भी कोई हो सकता है, जो पूर्व और पश्चिम जैसे स्वयं-प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मारने को तैयार हो, इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रखी है। पर इसी के साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी ने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रखा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनों का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नहीं। देखा जाए तो हममें कदाचित् ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े में ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों में इन्हें हम और कुछ कहते हों। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यों न हो,—इसके विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा उसी में कर दी जाती है। कैसे की जाती है, यह बताने के लिए अनेक आचार्यों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं। इसकी शिक्षा के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाणपत्र के साथ वे हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राजदरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने मामले पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश इन सम्मुख-विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये-नये आदर्श अथवा साँचे हैं।

न्यायालय ही नहीं, हमारा यह महाभारत रात-दिन सर्वत्र चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है। कोई दूसरा न हो तो

अपने-आप भी हम यह कसरत कर सकते हैं। परन्तु रूखी रोटी की तरह अकेले-अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार में अनाहार से अधिक नहीं। कदाचित् इसी कारण काल कोठरी की सज़ा वर्तमान समय की एक बहुत बड़ी सज़ा है। तो हाँ, जहाँ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है—'यह बात ऐसी है', दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'नहीं, यह बात ऐसी हो नहीं सकती।' दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्क-संगत है, कि प्रसंग का कुछ जाने-समझे विना हम भी उसे अपना मत दे सकते हैं। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जबकि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कह चुका हो!

यह तर्क या बहस प्रारम्भ हुई नहीं कि एक बड़ा जन-समूह तुरन्त हमारे आस-पास इकट्ठा हो जाता है। इसके पैर में कितनी तेज़ी है, इसके निर्णय का एकमात्र समय यही है। इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सहन न होगी, इसी से अस्पृश्य समझकर यहीं छोड़ी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसंग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ नहीं बिगड़ता। संसार के अधिकांश युद्धों का उद्गम इसी के भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते हैं। वहाँ आरम्भ में एक कहता है—'ऐसा'; दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'ऐसा हर्गिज़ नहीं!' बस इसी के बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। संसार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है!

तो हाँ, जब किसी एक को अस्पृश्य कहकर छोड़ दिया गया है, तब किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पड़ेगा। किन्तु बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए ग्राह्य नहीं जान पड़ता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसी को चोट न लग जाय तो भला यह भी कोई बात हुई! सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर-फिर जी उठना है। इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वही तेज़। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यंजना के

आवरण में कोमल करके इसे वैश्य वर्ण में लाने का यत्न किया है। परन्तु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण देर तक छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है; नहीं तो यह आरोप किया जायेगा कि लेखक को बहस में मुँहकी खानी पड़ी है, इसी से छिपे-छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।

वास्तव में जीभ की महिमा है ऐसी ही। विधाता ने हमें आँख, कान, हाथ, पैर—ये सब दो-दो की संख्या में दिये हैं, तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमें एक क्यों दी ? नाक भी एक ही दी थी। जान पड़ता है, बाद में उसे इसमें अपनी भूल मालूम हुई। इसी से इसके बीचों-बीच उसने एक दीवार खड़ी करके एक को दो में बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही संशोधन का प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यों न माना जाए कि जीभ के एक रखने में उसका कुछ विशेष हेतु था ? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय साँप के द्विजिह्व होने की बात कहकर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कहकर भी नहीं कि उस अवस्था में खाद्य पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ के संख्या में दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसी को किसी अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओं में जाकर किसी दूसरे की सहायता के बिना ही अपना काम चला लेता। मनुष्य की एक जीभ कहती—'मीठा', दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती—'नहीं, कड़वा।' इस प्रकार अपने-आपमें ही आनन्दरस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता का उदय होता, उससे क्या हमारे

इस बहुविचित्र संसार के असंख्य ही टुकड़े न हो जाते ? दूसरे का हित करने के लिए उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ती और न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढ़कर उसकी समालोचना लिखने की । न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व होता, न राजा की एकान्त काल-कोठरी का । सचमुच ही यह बहुत बुरा होता है । इसी सबके कारण तो हमारा कर्ममुखरित संसार इतना प्रिय और मधुर है !

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोड़कर भी किसी और को होना चाहिए । यह और कोई ऐसा है, जिसके बिना जीवन नीरस हो जाता । ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यों न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते ही हैं । मनुष्य में वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है । आँख ? वह हमसे अधिक गीध में है । कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं । कुत्ते की घ्राण-शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते । दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूलकर, उसी की काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पड़ता है । जो बात कहीं दूसरे में नहीं मिलती, वह है हमारी वाणी । अतएव जब हम किसी की बात सुनते हैं तो स्वाभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है । अन्य का महत्त्व खण्डित करके अपना महत्त्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है । इसका काम है, महत्त्वाकांक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बड़ा कर देना । बैलों में जब यह वृत्ति पैदा होती है तो सींग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढंग की बहस नहीं करते । मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके लिए बहुत-सी बातें आसान हैं । सच पूछो तो दूसरे प्राणियों को विधाता का जिह्वादान उसके बड़े अपव्ययों में से एक है ।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता । जीभ की स्तुति जीभ चलाकर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं । इन बातों

को काटकर कुछ कहने वाला कोई दूसरा होता, तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकेगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह असम्भव है कि उसे पश्चिम कहने वाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा जो मेरे पूर्व को पूर्व ही रहने दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट-छीलकर एक में बाँधी गई भिन्न-भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एकरस हो सकती हैं और हो जाती हैं। पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे में दूसरे का। इसमें अन्तर आना असम्भव है।

बैलगाड़ी

दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी

नित्य नए आविष्कारों के इस युग में जब बैलगाड़ी के आविष्कर्त्ता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने बैठा हूँ तब भय होता है, कहीं अप्रगतिशील, अनुदार और विवेकशून्य न समझ लिया जाऊँ। तरतीब से लगाई, मेहनत से सजी-सँवारी, लाखों की लागत की फुलवारी भी देखी है, जिस पर फुलवारी के मालिक, बस्ती के ज़मींदार को नाज़ था कि उसके यहाँ फुलवारी की शोभा देखने बड़े लाट तक आए थे, और पगडंडी का अछूता अकेला फूल भी देखा है जो अपने अकेलेपन में मगन अपनी लुनाई बिखेरता था, और मेरे मन ने उस अकेले फूल को ही सुन्दर समझा है, यद्यपि मेरे मस्तिष्क ने ज़मींदार की फुलवारी की विशद महत्ता स्वीकृत की है। मेरा मस्तिष्क मुझे बतलाता है, आज के युग में हवाईजहाज़ है, टेलीविजन है, फोटो इलेक्ट्रिक सेल हैं और प्रगतिशीलता के अर्थ में इनके साथ पुरानी बैलगाड़ी की याद करना अपने दकियानूसीपन का ही परिचय देना है। पर यह मेरा मन है कि कहता है, आविष्कारों की बैलगाड़ी से कोई तुलना नहीं, बैलगाड़ी में कुछ जादू है जिसका कहीं दूसरी जगह नामोनिशान नहीं, बैलगाड़ी का अपना मर्म है जिसकी गहराई को दुनिया का कोई आविष्कार पा नहीं सकता और बैलगाड़ी का अपना एक व्यक्तित्व है जो

सब तरह अद्वितीय है।

बैलगाडी मेरे लिए वस्तु नहीं, प्रतीक है। उसमें गति है, पर साथ ही उलझन नहीं, सादगी है। वह निर्जीव है पर उसके निर्जीव यंत्रों की गतिशीलता निर्जीव कोयले और भाप पर आश्रित न होकर सजीव बैलों पर आश्रित है। उसकी गतिन्यूनता में दुर्घटना-विहीनता निहित है। गति के साथ उलझनों से मुक्ति, निर्जीव के साथ सजीव का सामंजस्य, प्रगति और दुर्घटना के अन्यान्य सहयोग का लोप—क्या ये युग की समस्याएँ नहीं हैं? जहाँ हमने उन्नति की है वहाँ अपने लिए हमने उलझनें भी सिरजी हैं, हवाईजहाज़ हमने जहाँ तैयार किया वहाँ 'गैस मास्क' भी हमें तैयार करने पड़े; जहाँ हमने निर्जीव मशीनों का चमत्कार दिया है वहाँ उन्हें सजीव मनुष्यों के अहित का साधन भी बनाया है। अर्थशास्त्र के अध्यापकों से अपने छात्र-जीवन से ही सुनता आ रहा हूँ, मशीनों की एक-एक नयी उन्नति का मोल हमें हज़ारों मनुष्यों की बेकारी से चुकाना पड़ा है; जहाँ अपनी गति-तीव्रता का हमें गौरव है वहाँ दुर्घटनाओं की बहुलता का कलंक भी—बिहटा दुर्घटना की स्मृति अभी ताज़ी है। और यह बैलगाड़ी है जो चलती है, पर जिसकी बनावट में कहीं पेचीदापन नहीं, जिसमें सजीव बैलों की महत्ता निर्जीव 'बल्लों', 'जुए' और 'धुरचिल्लियों' की महत्ता से अधिक है; जिसमें खूब तेज़ चलने की ताकत नहीं तो दुर्घटनाओं का डर भी नहीं। इसीलिए कहता हूँ इस युग की त्रुटियों की ओर बैलगाड़ी एक इंगित है, आज विविध वैषम्य के समाधान के लिए एक प्रतीक है।

यातायात के साधनों की संख्या अविश्वसनीय रूप से बढ़ी है, उन साधनों के रूप अत्यधिक परिष्कृत हुए हैं, पर इस वृद्धि और इस परिष्कार ने हमारी यात्रा की कविता का गला घोंट दिया। ट्राम में बैठिए तो उचककर चढ़ने और छलाँग भरकर उतरने की फिक्र है, घंटियों की बार-बार कर्णकटु क्रिन-क्रिनिन से आपके विचारों को व्याघात पहुँचता है, बस है तो कंडक्टरों की पैसा-वसूली, उनका हिसाब-किताब और चवन्नी-

अठन्नी के फिरते की तलाश आपको चैन नहीं लेने देती और रेलगाड़ी के सफर में टाइम-टेबिलों के पठन-पाठन, असबाब की नाप-जोख और इंजिन के कोयले-भरे धुएँ से आपका बुरा हाल है, हवाईजहाज़ से राह तय करने की आपने ठानी भी तो इंजिनों के प्रलयंकर गर्जन का आपको सामना करना है, तंग जगह में कैद होकर आपको बैठना है और फिर चूँकि हर मुसाफिर के लिए उसके शरीर के वज़न के साथ-साथ एक खास वजन तक असबाब ले जाने का हवाई यात्रा में हिसाब है, आपका देह का वज़न आपके सौभाग्य से अगर अच्छा है तो अपने दुर्भाग्य से आप अपेक्षाकृत कम ही सामान अपने साथ ले जा सकेंगे। लेकिन बैलगाड़ी इस तरह की कोई असुविधा आपको नहीं देती; यहाँ न कोई हुजूम है न पाबन्दी, न जगह की वैसी कैद है न आपके वज़न की वैसी जाँच। यात्रा की सर्वोत्तम स्वच्छन्दता बैलगाड़ी की ही यात्रा में है और आज की व्यग्रता और नियमबद्धता की दुनिया में दो क्षण स्वच्छन्दता की साँस लेने को ही तो अधिकतर हम यात्राओं को निकलते हैं।

चाँदनी रात में घर से स्टेशन के लिए बार-बार बैलगाड़ी की यात्रा की है। दस मील का यह सफर मेरे लिए वैसा ही सजीव और महत्त्वपूर्ण है जैसे सजीव और महत्त्वपूर्ण उस लेखक के लिए वे दस दिन जिनके बारे में उसने वह किताब लिखी है—'टेन डेज़ दैट शुक दि वर्ल्ड'—'दस दिन जब दुनिया काँपी थी।' देहात की ऊबड़-खाबड़, कहीं हरियालीभरी, कहीं धूल-धूसरित, सूनी राह, ऊपर खुला आसमान, नीचे खुले खेत-सरेह, रात की निबिड़ चुप्पी, उस चुप्पी के भीतर से जब-तब पशु-पक्षियों की रहस्यमयी ध्वनियाँ और इन सबके बीच अपनी असल एकरस गति से जाती हमारी बैलगाड़ी, जिसके बैलों के गले की घंटियों की मधुर टिन-टिन, टुन-टुन, सुन्दर संगीत बिखेरती, जिसके पहियों की चीं-चीं, चूं-चूं एक अनुपम तंद्रा का संचार करती और मेरी देह के नीचे जिसकी बाँस की पट्टियाँ हिल-डुल मेरे उनींदेपन के लिए मुझे उलहना दिया करतीं—इस वातावरण में आँखें मूंद निश्चेष्ट पड़ा जब-जब घर से स्टेशन की राह तय

की है तब-तब प्राणों में एक गुदगुदी अनुभव की है जिससे कविता शायद जन्म लेती है। मेरे पास दो नुस्खे हैं जिनका मैं तमाम दुनिया में प्रचार चाहता हूँ—अकेलापन पसन्द है तो शहर में घर कीजिए, कवि बनना है तो बैलगाड़ी का सफर कीजिए। शहर का कोलाहल भ्रम है, एकांत सत्य, शहर की हलचल में कौन किसे पूछता है? वहाँ की सारी व्यस्तता के बीच में भी आप एकदम अकेले हैं। अकेलापन देहात में नहीं, वहाँ एकांत में भी जब आप होते हैं आप जानते हैं, गाँव का हर आदमी आपको जानता-समझता है और आपकी ज़िंदगी की प्रत्येक समस्या में वहाँ सभी अभिरुचि रखते हैं। इसी प्रकार, गद्य-ही-गद्य दीखनेवाली बैलगाड़ी में जो कविता है वह बाहर से कवित्वपूर्ण दीखनेवाली किसी वस्तु में नहीं।

आधुनिक संसार की चकाचौंध में आप शायद सोचते हों, ये बैलगाड़ियाँ शेषनाग पर टिकी सृष्टि के पहले की चीज़ हैं, न इनके आकार-प्रकार में कोई नियमितता है, न इनके चलने-फिरने में कोई नियम-बद्धता। ब्रिटिश साम्राज्य के 'बाएँ रहिए' यात्रा-नियम की ओर आपका ध्यान जाता है और फ्रांस के 'बाएँ रहिए' नियम की ओर रेल के रंगीन सिगनलों की तसवीरें आपके आगे आती हैं, लन्दन के 'ब्रेलिशा बेकन' और यंत्रचालित 'ट्रैफिक पुलिसमैन' की भी बात आप सोचते हैं और कहते हैं, मगर ये बैलगाड़ियाँ हैं जो बिलकुल मनमानी राह चलती हैं, गाड़ीवान की इच्छा ही इन बैलगाड़ियों की दुनिया का कानून है। बात ऐसी नहीं। बैलगाड़ियों के भी अपने 'ट्रैफिक-सिगनल' (यात्रा-संकेत) हैं, उनका भी अपना एक 'कोड' है, अपनी नियमावली है। मैंने हमेशा देखा है, जब दो बैलगाड़ियाँ आमने-सामने किसी राह में मिलती हैं तो भारी बोझवाली गाड़ी के लिए हल्के बोझवाली गाड़ी को ही जगह बनानी होती है। यह भी देखा है, जब दो बैलगाड़ियाँ एक साथ एक ही दिशा में चलने को होती हैं तब तेज़ चलनेवाले बैल हमेशा अगली गाड़ी में जुतते हैं ताकि मद्धिम बैलोंवाली गाड़ी उन तेज़ बैलों के पीछे-पीछे चल उनकी गति से अपनी गति के लिए प्रेरणा पा सके। फिर, रास्ते की तरह-तरह की

कठिनाइयों के लिए, ऊँचा-नीचा, ढाल, तिरछा या चढ़ाव, इन चीज़ों के लिए बैलों को मुनासिब इशारे के संकेत-शब्द हैं जो निश्चित हैं और जिनका व्यवहार दूर-दूर भागों के गाड़ीवान एकसा करते हैं। बैलों को बढ़ाव या गाली देने के शब्दों में भी एक सर्व-सम्मानित समानता मिलती है। बैलगाड़ियों और गाड़ीवानों की दुनिया के ये संकेत-चिह्न और शब्दावली उतनी ही जटिल, रूढ़ और व्यापक हैं जितने रेलवे के सिगनल या 'ट्रैफिक पुलिसमैन' के इशारे या तार का 'कोड'।

कुछ दिन पहले कांग्रेस के एक अधिवेशन के अवसर पर मनोनीत राष्ट्रपति का जुलूस बैलगाड़ियों का निकाला था। मुझे उस बात ने प्रभावित किया था। बैलगाड़ी एक अर्थ में भारतीयता का ही दूसरा स्वरूप है। उसमें गति है, प्रगति नहीं, उसमें शक्ति है, पर गांभीर्य और धैर्य ही उस शक्ति की विशेषताएँ हैं, न कि उत्सुकता और तीव्रता, वह हमारी बुद्धि की अपेक्षा हमारी भावनाओं को अधिक स्पर्श करती है, उसमें सरलता है, उलझन नहीं, उसकी आकृति सीधी-सादी है—पर उसकी आत्मा में किसी गूढ़, चिरंतन रहस्य का आभास है और उसकी चाल में एक अविचल एकरसता है, जो उसकी शालीनता और उसके परंपरा-प्रेम का द्योतक है। क्या ये सब बातें भारतीयता के लक्षण नहीं हैं ?

मेरे लिए बैलगाड़ी की एक दूसरी महत्ता भी है जो निजी होकर भी शायद दूसरों की अभिरुचि की होगी, क्योंकि उस महत्ता का बोध थोड़ा-बहुत उन सबको हुआ होगा जो अपनी जीविका के लिए शहरों में रहते हैं और जब-तब छुट्टियों में या किसी काम से देहात, अपने घर पर, कुछ दिनों के लिए आते हैं। मेरा जीवन दो तरह की दुनिया से होकर अपनी राह तय कर रहा है। एक ओर हलचल और कार्यक्रम और 'बच के बाबू' और 'हल्लो, यह श्रीयुत क···बोल रहे हैं', 'शाम को गाड़ी जा रही है, आइएगा न ?' और पुस्तकालय और अखबार और साहित्य-चर्चा की शहरी दुनिया है जिसे आज ग्यारह वर्षों से झेलता आ रहा हूँ। दूसरी ओर, यह शून्य, अलस निर्विकार एकरस दिन-रातों का देहाती संसार है

जहाँ कार्य-व्यग्रता का अभाव कभी-कभी कद हो उठता है, जहाँ घर के सामने देवालय की घंटाध्वनि ही सायं-प्रातः जीवन की शिथिलता में विविधता का संचार करती है, या खेती-बारी की प्रिय-अप्रिय समस्याएँ मन को अपने में उलझाकर थोड़ी देर के लिए रेंगते क्षणों का दुर्वह भार हलका कर देती हैं, जहाँ अवकाश की घड़ियाँ बिताने को मैं सूनी कोठरी में बैठा, बादल-भरे मटमैले आकाश को जब-तब निहारता, आटा पीसती हुई चक्कियों का अनवरत घिस-घिस रव सुनता ये पंक्तियाँ लिखने बैठा हूँ। इन दो संसारों में कोई समानता नहीं। पश्चिम के साहित्य में 'लीथी' नाम की एक काल्पनिक नदी का वर्णन आता है। 'लीथी' नदी मर्त्यलोक और स्वर्ग की सीमा पर अवस्थित है और मृत्यु के बाद दूसरे लोक को जाती हुई आत्माओं को 'लीथी' होकर ही जाना पड़ता है, जहाँ के जल-स्पर्श के साथ-साथ पिछले जीवन की सारी अनुभूतियाँ उन्हें अकस्मात् विस्मृत हो जाती हैं। शहर और घर के बीच की राह में—वह राह जिसे तय करने का दुर्लभ सुयोग कभी-कभी ही प्राप्त होता है—मेरे लिए 'लीथी' नदी का काम करती है बैलगाड़ी की वह यात्रा जिससे रेलवे-स्टेशन पर और घर के बीच के दस मील मैं तय करता हूँ। मेरी सुविधा की गाड़ी स्टेशन पर भरी रात को पहुँचा करती है। मैं बाहर आकर ज़रा खुले स्वर अंधकार में पुकारता हूँ : अमुक गाँव की बैलगाड़ी कोई आई है ? तब बरगद के एक पुराने घने पेड़ के नीचे बैलगाड़ियों के उस छायालोक से सहसा एक गाड़ीवान प्रकट होकर मुझे सलाम करता है, मेरा असबाब उठाकर गाड़ी पर रखता है, फिर मैं उस पर जा बैठता हूँ, तब पहले ज़रा ज़ोर के दो-एक हचकोले लगते हैं और बाद में एकरस चर्र-मर्र ध्वनि प्रारम्भ हो जाती है और घंटियों के संगीतमय कंठनाद में आँखें मूँदे मैं पड़ा होता हूँ जहाँ विगत की अनुभूतियाँ मुझसे एक-एक कर छूटती होती हैं और दूर दिखलाई देती हैं प्रभात की सुनहरी किरणें··· एक नवीन छटा···एक नया संसार।

अंग्रेज़ी की एक सुप्रसिद्ध कविता में एक जग-कातर युवक बुलबुल

का गीत सुन स्वर्ग-लोक की कल्पना करता है, वहाँ पहुँचना चाहता है और उसे लगता है उसने बड़ी नशीली शराब पी है और वह 'लीथी' की ओर क्रमशः खिसक रहा है। मैं दैनिक जीवन के सिलसिले में जब-जब जग-कातर होता हूँ, मुझे लगता है, मैंने महेंद्रू जहाज़-घाट से अपने लिए एक रेलवे-टिकट खरीदा है और बाद उसके मेरे गाँव का वह छोटा स्टेशन है और गाड़ीवान का वह सलाम, फिर बैलों की घंटियों की टिन-टिन, टुन-टुन और तब एक दूसरा संसार। कीट्स के 'ओड टू नाइटिंगेल'— 'बुलबुल के प्रति ओड' की तरह मैं हिन्दी में 'ओड टू दि बुलॉक्स बेल' ('बैल-घंटियों के प्रति ओड') की बाट जोहता हूँ।

डायरी के सम्पादित पृष्ठ

नलिन विलोचन शर्मा

: १ :

मैं डायरी रखता हूँ, लिखता नहीं। कुछ मित्रों से मिलती हैं, दूसरी अच्छी लगीं तो खरीद लाता हूँ। फिर भी डायरी रखता हूँ, यह कहना शायद गलत होगा। 'डेट्स' वाली बहुत छोटी डायरी रखता हूँ, यह ज़रूर ठीक है।

वह भी तब रखना शुरू किया जब देखा, व्यावहारिक जीवन में बड़ी दिक्कतें और हानि उठानी पड़ती हैं।

और फिर भी इस छोटी डायरी में लिखी बातें भी, सौ में नब्बे, काम की तभी साबित होती हैं जब वे याद हों—यानी, अगर वे न भी लिखी जातीं तो कोई हर्ज न था।

कहीं अंग्रेज़ी भाषा पर मधुर व्यंग्य करते हुए किसी लेखक ने अपने एक अल्पवयस्क पात्र से कहलाया था—"इन शब्द-कोषों से फायदा क्या! जब तक शब्दों को हिज्जे मालूम न हों तब तक उनको हिज्जे जानने के लिए उन्हें कोष में ढूंढ़ा ही कैसे जा सकता है!" अंग्रेज़ी के शब्दों को हिज्जे हैं भी तो कुछ ऐसे ही। और तब यह भी सोचने लगता हूँ कि उर्दू-फारसी में शब्द-कोष कैसे बनते हैं और बनते हैं तो उनका

उपयोग क्या और कैसे होता होगा !

अंग्रेज़ी के शब्दों के हिज्जे की बात आई तो उनके उच्चारण की विचित्रता के सम्बन्ध में एक लतीफा याद आ गया। (मैं अक्सर उसे याद कर आनन्दित होता हूँ—लतीफों की यही तारीफ है कि मधुर स्मृतियों की तरह याद आ-आकर मन में आनन्द का संचार कर जाएँ ! एक दोष यह भी है कि अकेले बैठकर आप ऐसी याद की वजह मुसकरा रहे हों और कोई देख ले तो क्या कहेगा—यही तो कि शायद माथे के कील-काँटे ढीले पड़ रहे हैं !) । तो लतीफा—जिसे आपमें से बहुतों ने सुना भी होगा और, इसलिए, उसे सुनने से आनन्द के बदले झुंझलाहट ही होगी। कल-परसों की बात है, खुद मुझे ही इस लतीफे को दूसरे के मुँह से सुनना पड़ा था। वे समझ रहे थे, वे नया लतीफा सुना रहे हैं; और इससे बढ़कर उबानेवाली बात नहीं कि कोई सुने हुए लतीफे को सुनने के लिए ही नहीं, सुनकर हँसने के शिष्टाचार का निर्वाह करने को भी बाध्य हो ! लेकिन, तो लतीफा—एक अमेरिकन इंगलैण्ड घूमने आया था। उसका सबसे बड़ा सर-दर्द यह था कि इस देश की भाषा के शब्दों के रूप कुछ और उच्चारण कुछ ! उसकी झुँझलाहट रोज बढ़ती ही जा रही थी। एक रोज़ जो बेचारे ने सिनेमा के पोस्टर में पढ़ा 'Scandal—Pronounced Success', तो यह ऊँट के लिए आखिरी तिनका साबित हुआ और वह पहले सुलभ जहाज से अपने उस देश को वापस लौट गया जहाँ, इंगलैण्ड की तुलना में, कम-से-कम उच्चारण के सम्बन्ध में, अधिक उदार दृष्टिकोण है।

: २ :

मैं डायरी की बात कह रहा था। इस बार बहुत दिनों के बाद छोटी बहन आई। बड़े भाई को उपहार क्या देती—और देना चाहती भी थी। सो अपनी भाभी को उसने एक बड़ी-सी, नीले चमड़े की, खूब मँहगी, खूबसूरत डायरी, मेरे सामने ही दी। जब सम्पत्ति बहन की नहीं रह गई, उसकी भाभी की हो गई, तो वह तत्काल मेरे द्वारा

'आयत्तीकृत' हुई। बहन प्रसन्न थी। वह जानती थी कि डायरी, इस तरह, भैया को मिलकर रहेगी! पत्नी भी प्रसन्न ही थीं; हाँ, अप्रसन्नता का अभिनय जरूर कर रही थीं।

: ३ :

'आयत्तीकृत'! ज़रा अप्रचलित शब्द है न! पिछली बार इलाहाबाद गया था। हिन्दी आलोचना पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० देवराज, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और इन पंक्तियों का लेखक (माचवेजी, जो वहाँ उपस्थित थे, के शब्द का इस्तेमाल करूँ तो) एक 'परिसंवाद' में भाग लेने वहाँ पहुँचे थे। उसकी रेकार्डिंग के लिए जब हम स्क्रिप्ट तैयार कर रहे थे तो द्विवेदीजी ने 'आयत्तीकृत' इस शब्द का प्रयोग, प्रसंगवश किया। डॉ० देवराज ने कहा, "यह शब्द तो ज़रा···।" इस पर पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने (वे परिसंवाद के निर्देशक थे) हँसते हुए कहा—"तो बदल दीजिये न उसे।" द्विवेदीजी ने भी कहकहा लगाते हुए उत्तर दिया—"भाई, अपनी आज की बातचीत में एक तो यही कुछ भारी-भरकम-सी चीज़ दी मैंने। इसे तो मैं नहीं हटाता!" सो शब्द रहा ही, द्विवेदीजी के द्वारा पुनरावृत्त भी हुआ और इस तरह हल्के-हल्के कि उसे भारी-भरकम कौन कहेगा!

मैंने बगल में बैठे और, कहने की ज़रूरत नहीं, मेरे कारण प्रच्छन्न-प्राय अपने मित्र से कहा—"कौन साहब थे, ठीक याद नहीं, और तब आप ही कहें, डायरी का लाभ क्या हुआ आखिर!—मुझे तो भारी-भरकम शब्द की भी ज़रूरत नहीं!"

मैं सोचकर पाता हूँ कि परिसंवाद के मेरे अपने अंश में एक दूसरा भी भारी-भरकम तत्व था। मेरी आवाज़ यों ही भारी है। उस दिन गला और भारी हो गया था। बीच में जितनी बार खाँसने की आवाज़ ने रस-भंग किया उसके अस्सी प्रतिशत के लिए मैं ज़िम्मेवार था, यह गोपनीय रहस्य बता ही दूँ!

: ४ :

इलाहाबाद और डायरी, जिसकी चर्चा अभी कर चुका हूँ, दोनों का सीधा सम्बन्ध भी है। ऊपर की पंक्तियाँ तो पटने में अपने 'त्रिशंकु' नामक बैठकखाने में बैठा लिख रहा हूँ। ('त्रिशंकु' मेरा वह मध्याह्न-मन्दिर है जो, उससे परिचित जानते हैं, इस नाम को पूरी तरह सार्थक करता है)। उस दिन इलाहाबाद जंकशन पर उतरने के बाद सुबह की चार और साढ़े पाँच की अवधि को वेटिंग रूम में तिल-तिल कर काटता हुआ क्यों उस नीली डायरी को निकालकर कुछ लिख बैठा यह उस दिन, उस वक्त की लिखी पंक्तियों को पढ़कर, अनुमान कर लें। अपनी डायरी के उन पृष्ठों से वे पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ।

ये पंक्तियाँ एक मुखाकृति के अंकन के चारों ओर बेतरतीब ढंग से लिखी हुई हैं और जिस पृष्ठ पर ये लिखी गई हैं उसके बाद के पृष्ठ कोरे ही रहते चले गए हैं।

पंक्तियाँ हैं :

"अभिव्यक्ति के माध्यम की वह असफलता जो आत्महत्या का दारुण क्षण उपस्थित कर देती है।...

"अनुभव की अभिव्यंजना के माध्यम को अधिकृत करना स्वयं अपने में बहुत बड़ी सिद्धि है, उदाहरणार्थ, इस वक्त मेरे सामने हज़ार में एक 'मॉडल' लाख में एक 'पोज़' दिए बैठी है—संख्यातीतता इसलिए है कि मैं वेटिंग रूम में हूँ और यह सद्यःस्नाता नव-वधू मेरे सामने, प्रसाधनोपरान्त, गाड़ी की—या और किसी वस्तु की ?—प्रतीक्षा में निमग्न है, यह नव-वधू जो कुछ देर में चली जाएगी। मैं समझता हूँ कि उसकी इस मुद्रा को रेखाओं में बाँधकर मैं अभिनव 'मोना लिजा' का निर्माता हो सकता हूँ। लेकिन मॉडल सामने है तो क्या तसवीर बन ही जाएगी ? तसवीर बनाना सीखना पड़ता है ! सब व्यर्थ !..."

मैंने पहले कोशिश की थी कि इस अलोकसामान्य, अप्रत्याशित मॉडल' और इसके खूसट अभिभावक की आँखें बचाकर अपनी डायरी

के सादे पृष्ठ पर अपनी कलम से 'मॉडल' की नुकीली मुखाकृति अंकित कर लूं। इतना असाधारण विषय! कुछ तो पल्ले पड़ ही जाएगा! लेकिन जो रेखाएँ मैंने खींचीं वे तो व्यंग्य-चित्र भी नहीं बन पाईं! उनसे सुन्दर नारी-मुखाकृति की रेखाएँ तो मैं यों ही खींचता रहता हूँ!···

: ५ :

मैंने इसके बाद इस डायरी में कभी और कुछ नहीं लिखा। लेकिन, सोचता हूँ, अगले साल से, एक अच्छी डायरी मिल गई तो, नियमित रूप से ऐसी व्यर्थ की बातें रोज-रोज़ लिखूंगा। कुछ लेखों के लिए टिप्पणियाँ तो सुलभ हो जाती हैं।

छाता

प्रभाकर माचवे

आपका छाते के बारे में क्या मत है, मैं नहीं जानता, परन्तु मैं छाते को मनुष्य-जाति का एक बहुत बड़ा उपकारकर्ता समझता हूँ। कल्पना कीजिए कि आप रास्ते से जा रहे हैं और उधर से एक मोटर फर्र-से चली आयी और आपके और मोटर के बीच में कीचड़-सड़े पानी का एक गड्ढा है। आप अपने छाते का उपयोग एक ढाल की भाँति कर सकते है। और मोटर भी नहीं, कोई अनावश्यक व्यक्ति उधर से जा रहा हो जिससे आप मुँह छिपाना चाहते हों—चाहे जिस कारण से क्यों न हो—छाता आपकी मदद के लिए सदैव प्रस्तुत है !

इस कारण मेरा मत है कि छाता, जिसे आदमी ने शायद 'कौए की छतरी' उर्फ़ कुकुरमुत्ता देखकर सबसे पहले ईजाद किया, मनुष्य की रक्षा-प्रवृत्ति का प्रतीक है। आदमी बचना चाहता है—पानी से, इसलिए छाता; जाड़े से, इसलिए ओवरकोट, गर्मी से, इसलिए खस की टट्टियाँ। जो आदमी बचना नहीं चाहता, वह किसी की छत्रछाया भी पसन्द नहीं करता। गंगाघाट पर ये बड़ी-बड़ी छतरियाँ लगाए बैठे पोंगा-पण्डित, नाम के सन्त-महन्त पता नहीं किस चीज से बचना चाहते हैं। अवश्य ईश्वर के कोप से बचना चाहते होंगे क्योंकि उन्होंने पाखण्ड कितना फैला

रखा है यह क्या सर्वज्ञ ईश्वर नहीं जानता होगा ! किसी-न-किसी शुभ दिन गंगा में ऐसी बाढ़ आए कि ये सब छतरियाँ स-छत्री-छाया-वासी साधुओं के, डूबकर बह जाएँ तो दुनिया की पीठ से बहुत-सा कल्मष मिट जाएगा।

तो हाँ, मैं छाते की बात कर रहा था। जिस दिन आप डर रहे हों कि आसमान में बादल हैं और अब वे ज़ोर से फट पड़ेंगे, वर्षा आएगी ही, उसी दिन आप देखेंगे कि दिन-भर छाता लिये आप डोलते रहिए—गरजेंगे सो क्या बरसेंगे—मसल सार्थक हो रही है। और इससे उलटे आप किसी दिन छाता ले जाना भूल गये कि अवश्य राजा इन्द्र, ज़ोर से मूसल चलाने ही लगे। मानो राजा इन्द्र या वरुण आपके छाता न ले जाने की राह देख रहे हों। बरसात के साथ-साथ मेढक, सावन-भादों पर कविताएँ और 'छाता बनवा लो छाता' पुकारनेवाले आपको सहसा दिखायी देने लगेंगे। पता नहीं, इतने दिन ये कहाँ छिपे थे ! जहाँ उधर छहर-बूंद बरसने लगी, हमारे बाबुओं ने अपने छाते ताने और आदमी और बरसात का यह संग्राम शुरू हो गया। इसमें कभी-कभी आपने देखा है कि हवा जब उलटी बहती हो और पुराना छाता पुराने समाजी निज़ाम की तरह पूरी तरह उलट गया हो, तब कैसा आनन्द आता है ? आप छाते को सम्हाल रहे हैं और भींग रहे हैं, छाता है कि आपके कब्ज़े से बाहर होता जा रहा है और तब छाता बजाय एक मित्र होने के एक शत्रु जान पड़ने लगता है, ठीक जैसे मित्र-राष्ट्र सुविधानुसार शत्रु-राष्ट्र भी होते जाते हैं।

नज़ीर मियां ने 'बरसात' पर एक बहुत यथार्थवादी कविता लिखी है। जान पड़ता है कि उनके वक़्त तक छातों का चलन इतना न रहा होगा। इसी से वे उस समय के रेनकोट यानी 'लोई' का ज़िक्र करते हैं—

हैं जिनके तन मुलायम मैदे की जैसे लोई।
वो इस हवा में खासी ओढ़े फिरे हैं लोई॥

और जिनकी मुफलिसी ने शर्म-वो-हया है खोई।
है उनके सिर पे सिरकी या बोरिये की लोई॥
क्या-क्या मची हैं यारो, बरसात की बहारें !

इसलिए यदि छाते का इतिहास लिखा जाए तो उसमें छाते के दादा-परदादा कहीं-न-कहीं टाट के बोरे या कम्बल के लम्बे आच्छादन के रूप में आपको मिल जाएँगे। किसी भलेमानस के हाथ छाता सम्हाले-सम्हाले दुख गये होंगे, या मुमकिन है छते सब पैराशूटवालों ने ले लिये हों, सो उस छाते को सारे शरीर पर आवृत करने के मोह से किसी 'मैकिन्टीश' ने आधुनिक रेनकोट बनाया हो !

एक छाता वह भी होता है, जो अक्सर विलायती मेमें शौक़िया उठाये-उठाये फिरती हैं। अपनी नज़ाकत दिखाने के लिए, कि हिन्दुस्तान की गर्मी उनसे सही नहीं जाती। सरकस में तार पर नाच करनेवाली छोकरियों के हाथों में वैसे जापानी फूलदार हलके छाते आपने देखे होंगे। वे सिर्फ़ नाम के ही छाते हैं। जब आकाश में बादल छाये हों, तब ऐसे छाते किसी काम के नहीं। वे तो सिर्फ बाहरी दिखावट के ही छाते हैं, जैसे कई आदमी नाम के ही आदमी होते हैं; वक़्त पड़ने पर वे काम ही नहीं आते।

छातों के मामले में अक्सर शिकायत यह होती है कि लोग उन्हें भूल जाया करते हैं। यानी किसी के मकान पर आप उसे भूल गये हों, और किस मकान पर भूले हों वह भी आप भूल गये हों, तो भी उसे शायद खोज निकालना सम्भव है। परन्तु यदि आप उसे ट्राम या बस में, रेल या ताँगे में भूल गये हों तो ? और भूलने से भी अधिक उनका आपस में ग़लती से अदल-बदल जाना बहुत सहज बात है। मगर ऐसे अदलने-बदलने में कभी आप फ़ायदे में भी रह सकते हैं; जैसे आपका छाता पुराना, जालीदार, फटा हुआ हो; और उसके बदले में मिला छाता बहुत अच्छा निकले, तो ? पेंसिल, रूमाल और छाता, यह कई आदमी अक्सर खरीदते नहीं, भूल से किसी दूसरे का ही काम में लाते रहते हैं। छाते

की माँग भी बहुत रहती है, इस माने में कि आपके मित्र आपके यहाँ आये हैं, पानी बरस रहा है, उन्हें लौटना है, उनके पास छाता नहीं है : 'मैं अभी लौटा दूँगा, ज़रा अपना छाता तो देना—!' और फिर एक बार छाता गया कि गया। छाता नयी किताबों की भाँति इस प्रकार उड़ जाने का अभ्यासी है। वह बहुत कम लौटकर घर पर अपने पुराने स्वामी के पास आता है।

छाते का यह और लाभ है। वह आपको अनचाहे परोपकारी बना देता है। मान लीजिये, आप छाता लेकर जा रहे हैं और पास में एक आपका परिचित, मित्र, जान-पहचान वाला भीगता हुआ जा रहा है। वह अवश्य ही आपकी छत्रछाया में आएगा। ऐसे समय एक मराठी हास्य-लेखक ने अच्छा उपाय सुझाया है कि किसी और दूसरे को भी आप उसी छाते में बुला लीजिए और तब आप बीच में छाते की डण्डी थामे चल रहे हैं और दोनों ओर से टप्-टप् अभिषेक दोनों मित्रों पर बराबर हो रहा है, जो आधे-आधे छाते के बाहर हैं ही—इस प्रकार दोनों मित्र जल्दी ही आपके छाते की शरण छोड़कर वैसे ही भाग जायेंगे जैसे अल्पसंख्यक पाकिस्तान से।

कन्ट्रोल के दिनों में छातों का रंग कुछ कच्चा होता है। कल्पना कीजिये, एक बहुत सुन्दर, नये, धुले कपड़े पहने, कालेज-कुमार प्रेम-याचना करने ऐसा कन्ट्रोल में खरीदा छाता लेकर चला है। रास्ते में मेघराज ने कृपा की, और वह छाते के प्रताप को न जानता हुआ, अपनी ही धुन में 'पियाऽमिलन को जाना' गुनगुनाता हुआ चला जा रहा है। और उसकी प्रेयसी उसे मिलती है—उसकी यह दशा देखती है कि न केवल यह हब्शी-सा रँग उठा है, किन्तु उसके कपड़े भी कृष्ण-बिन्दु-रंजित हैं, तब सम्भव है कि रूपासक्तिवाला प्रेम टूट भी जाए, और तब 'छाते के प्रति— उसे विरह-काव्य भी लिखना पड़े—'अहह निर्मम ओ मम छत्रिका !'

दर्शनशास्त्र में एक विभाग नीति-शास्त्र का भी होता है, जिसमें मनुष्य-कर्म की अच्छाई-बुराई, उसके हेतु और प्रयोजन ('मोटिव' और

'इण्टेंशन') से ठहरायी जाती है। मसलन, दान के हेतु से सोने की ईंट भिखारी के सिर पर फेंककर मारी और उससे उसका सिर फूट गया और लहू बहने लगा, तो भी मेरा कर्म नैतिक दृष्टि से शुद्ध है, 'सु' है; इससे उलटे मैंने बुरे इरादे से, खराब नीयत से एक सोने की मणि भी किसी को अलंकार रूप में दी तो अशुद्ध है, वह कर्म 'कु' है। इस प्रकार हमने 'छाते' को लेकर आदमी की नीतिमत्ता को परखने के लिए निम्न समस्या बनायी थी। इसका उत्तर आप जैसे देंगे उस पर आपकी चारित्रिक अच्छाई-बुराई, आपकी उदारता-संकीर्णता, स्वार्थ-परमार्थपरता, आपका मानवता-प्रेम इत्यादि-इत्यादि गुण अवलम्बित हैं। मैं अपना उत्तर अन्त में दूंगा ही।

मान लीजिये आपके पास एक ही छाता है, और आपको रास्ते में एक व्यक्ति मिलता है, जो पानी से भीग रहा है, तो आप निम्न बातें कर सकते हैं—

(१) अपना छाता उसे दे दें (यदि वह चोरी का छाता है तो हेतु 'कु' है), खुद भीगते हुए चलें। या,

(२) उसे अपने ही छाते में बुला लें और साथ-साथ चलें। (मान लीजिये वह व्यक्ति एक महिला हो तो फिर आपके हेतु की शुद्धता में शंका होगी)। या,

(३) आप उसे एक नया छाता खरीद दें। या,

(४) उसके दुःख में समभागी होने के लिए अपना छाता मूंदकर उसीके समान भीगते हुए चलें। या,

(५) उसे अपना छाता किराये पर दें या बेच दें। या,

(६) दुनिया के दुःख से एकदम कातर होकर छाता फेंक दें कि ओह, इस दुनिया में इतने बे-छाते वाले हैं, और मैं ही अकेला छाता ताने हूँ। या,

(७) मित्र को मीठा-मीठा उपदेश दें—देखो बे-छाते बर्षा में नहीं घूमना चाहिये। या,

(८) उसे कुछ पैसे दें—कि अच्छा तुम भी ऐसा छाता खरीद लेना (और जब वह कहे यह पैसे थोड़े हैं, आप जोड़ सकते हैं—बोरिया ही ले लेना)। या,

मैं यह करूँगा कि उस साथी को फुसलाकर अपना छाता उसे अधिक दामों में बेचूंगा और उसे पता भी नहीं लगने पायेगा कि मैं एक छाते का एजेण्ट हूँ और बीच में कमीशन खाता हूँ। यों परोपकार का परोपकार, व्यापार का व्यापार हो जायेगा।

छितवन की छाँह

विद्यानिवास मिश्र

छितवन से कुछ दिनों से अधिक परचा गया हूँ। छितवन की उन्मादिनी सुरभि के साथ इस परिचय का एक कारण है; गन्ध को ही मैं परम तत्त्व मानता हूँ। बचपन से ही इस पार्थिव तत्त्व की ओर मन अधिक दौड़ता रहा है, और आज शब्द के आकाश-पथ में विहार करते हुए भी पार्थिव गन्ध बरबस कभी-न-कभी चित्त के चटुल विहंग को खींच लेती है। इस मिट्टी का गुण है गन्ध, जैसे आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, जल का रस और तेज का रूप। इसीलिए रूप के तेज के पुजारी चकाचौंध से अंधे हो जाते हैं, उन्हें देखने से भी आँच लगती है, रस के पुजारी शीतल और जड़ हो जाते हैं, स्पर्श के पुजारी को बाई छू लेती है, शब्द का पुजारी शून्य हो जाता है, पर पृथ्वी के गुण गन्ध का पुजारी पृथ्वी का ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व का अमर श्रृंगार बन जाता है। गन्ध और गन्धवती की पूजा आसान नहीं। शब्द और आकाश तो कोने-कोने में अभिव्याप्त, ध्यान भर देने की आवश्यकता है और बुलाने पर समक्ष उपस्थित, रूप कुछ दुर्लभ है भी तो उसके आह्वान के लिए वैसा ही ग्राहक तेज भी अपेक्षित है, नहीं तो एकचारी पथ है ही नहीं, वहाँ दोनों ओर से प्रयत्न होना चाहिए जिसकी कोई गारंटी नहीं···स्पर्श में वह रंगीनी और मस्ती

नहीं, एक क्षणिक तृप्ति है और गहरी उत्तेजना, बस आगे कुछ नहीं··· रस चेतना नष्ट कर देने तथा जड़ता भर देने में ही अपनी सार्थकता समझता है, रसाकर भी इसीलिए जड़ात्मा कहलाता है···और गन्ध में प्रमोद तत्त्व अपनी पूर्ण कला के साथ अवतीर्ण है। गन्ध का वाहक बनाने में वायु अपना गौरव मानती है, गन्ध का आमोद पाकर रस उच्छ्वसित होकर आकृष्ट कर पाता है, गन्ध की लहक पाकर स्पर्श सुखद और मोहक हो जाता है और रूप को गन्ध न मिले तो फिर क्या, 'निर्गन्धा इव किंशुका:' डहडहाये पलाश की ओर आँख रमना चाहे भी तो मन नहीं रमता। शब्द और गन्ध तो एक वृत्त के ही दो एक-दूसरे के पूरक अर्ध-वृत्त हैं, शब्द महाशून्य का प्रतीक, गन्ध महापूर्ण का प्रतीक, शब्द सच्चिदानन्द की अनुभूति का चित्रपट हैं; गन्ध उस चित्रपट का स्थूल रूप है। इसीलिए शब्द तत्त्व के परमधाम के सत् और चित् भी परिमल-परियोग से ही आनन्दवान बन पाते हैं—

दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरियोग सच्चिदानन्दे।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे सदा वन्दे।।

शब्द की शून्य गति पर ही इस गन्ध के रंग-बिरंगे चित्र खींचने में ही युगों-युगों से भारती अपना जन्म सफल करती रही है। इस गन्ध और इस गन्ध की अधिष्ठात्री पृथ्वी की अर्चना इसलिए परम अर्चना है और इसमें बखेड़ा भी कम नहीं। पार्थिव साधना में विवेक और बुद्धि की, अनन्यता और एकाग्रता की, श्रद्धा और निष्ठा की तथा सन्तोष और क्षमा की जितनी तीव्र आवश्यकता है उतनी किसी अन्य साधना में हो नहीं सकती। यहाँ संसिद्धि जन्मजन्मांतर का हिसाब लगाती है। यहाँ सफलता पीढ़ियों-दर-पीढ़ियों का बलिदान माँगती है और यहाँ शान्ति, अशान्ति का चिर विश्राम। यहाँ अपने कृत से कोई नहीं नापा जाता, अपने कार्य से नापा जाता है; यहाँ पुण्य की इतनी बड़ाई नहीं जितनी पुराण के प्रयत्न की, पुण्य की प्राप्त्याशा की। यहाँ पाप की उतनी अगति नहीं, जितनी पुराण के अभिमान की। यहाँ कीर्ति जीकर मरने में नहीं, बल्कि

मरकर जीने में है। गन्ध-साधना; मैं बार-बार कहता हूँ, सबसे चरम और कठिन साधना है।

इस गन्ध-साधना का नन्दनवन यही छितवन है, जो जितना ही दूर रहता है, उतना ही मादक, जितना ही समीप, उतना ही सामान्य और निर्विशेष। छितवन में चम्पा के रूप का ज्वार नहीं, कुमुद का स्निग्ध शीतल स्पर्श नहीं, कमल का अलि-गुंजन नहीं, और न कदम्ब का मधुर रस। छितवन का सौन्दर्य व्यष्टि में नहीं, उसकी समष्टि में निहित है। छितवन के सौन्दर्य में लपट नहीं, आँच नहीं, छलछलाता हुआ मधुरस नहीं, मंजरित कलकंठ नहीं और पुलक स्पर्श नहीं, छितवन में है···गन्ध, शुद्ध गन्ध, निर्म्मिश्र गन्ध और पवित्र गन्ध, वह भी छितवन के एक-एक फूल में अलग-अलग नहीं, उसके समूचेपन में एक साथ है, अविभाज्य और अविकल। छितवन की छाँह में भुजंग भी आते हैं पर अपना समस्त विष खोकर। छितवन पार्थिव शरीर के यौवन का प्रतीक है, उसकी समस्त मादकता का, उसकी सामूहिक चेतना का, उसके निश्शेष आत्म-समर्पण का और उसके निश्चल और शुभ्र अनुराग का। छितवन की छाँह में अतृप्ति की तृप्ति है, अरति की रति है और अथ की इति। पार्थिव यौवन भी तृप्ति का, रति का और इति का प्रतिबिम्ब है, पार्थिव यौवन जब जाता है तो फिर आता नहीं। यौवन-हरिण पीछे घूम के अतीत की संगीत-लहरी सुनाकर और पार्थिव यौवन वितृष्णा में आकांक्षा का, वैराग्य में राग का, अभाव में पूर्ति का और पिपासा में उपराम का स्वप्न देखता रहता है, उसमें रात ही बीतती है, बात नहीं बीतती—

किमपि किमपि मन्द मन्दासत्ति योगादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिल परिरम्भव्यापृतै कदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेवव्यरंसीत्॥

उस यौवन में विषय का भोग होता है, विषय की तृष्णा नहीं होती और चढ़ती बार अनगिन अवगुन करके भी वह रसराज की लीला-भूमि होने के कारण परम प्रेमतत्त्व की रंगभूमि है और उसमें डूबने-बहने वालों में ही हमें इस जगत् के सबसे बड़े जागने वाले भी मिले हैं। वहाँ कालिदास

का अग्निवर्ण यदि मिला है साथ मिला है, तो उसके कालिदास के अज, भास के उदयन, भवभूति के माधव, वाणभट्ट के चन्द्रापीड़ और व्रज-साहित्य के कन्हैया। यौवन का उन्माद क्षय और विनाश के बीज कहीं बोता होगा, नहीं जानता, पर भारती के मन्दिर में तो इसी ने कलिदास, भारवि, माघ, वाण, अमरुक और पंडितराज जगन्नाथ की सृष्टि की है, इसी का श्यामोज्ज्वल रंग व्रजभाषा के कवियों पर चढ़ा रहा है और इसी का मकरन्द तुलसी में सत्व के रूप में बसा हुआ है और मैं कहता हूँ, इसी अभाव में कबिरा, दादू, यारी और बुल्ला पानी के बुल्ले की तरह तत्व-हीन लगते हैं और इसके प्रकाश से घबड़ाकर इसकी प्रतिच्छाया में इन्द्र-धनुष बुननेवाले कवि भी 'चमत्कृतिमात्रर्णयवसायित्वं' का आकाश-प्रदीप मात्र जला पाये हैं, उनके काव्य हृदयग्राही नहीं हो पाये। यौवन के उन्माद ने शैली को गतिशीलता दी है, कीट्स को स्थिरता दी है और उसकी स्मृति की प्याली से सन्तोष करने वाले बेचारे वर्ड्सवर्थ को केवल एक हलका-सा रंग मिल सका है, जिसकी कंठ-मात्र तक लकीर खिच पाती है, हृदय तक नहीं पहुँच पाती।

यह तो हुई पार्थिव-यौवन की बात, और छितवन ? आज तक किसी ने इस साधना की प्रतिमूर्ति छितवन को परखा नहीं, कमल में पुरइन का बूंद की तरह तरल और चंचल लक्ष्मी का प्रतीक लोगों ने ढूंढ़ निकाला, चम्पा में रूप के अभिमान की, शेफाली में तरुण अनुराग की, बन्धूक में अधर के आमन्त्रण की, कुमुदिनी में प्रकृति की, गुलाब में कीर्ति के सौरभ की और काश में मही के हास की खोज की जा चुकी है, जूही सन्ध्या के, बेला और हरसिंगार अधिरात के, कमल अरुणोदय के और बन्धूक दुप-हरिया के शृंगार के रूप में सर्वमान्य हो चुके हैं, परन्तु किसी ने छितवन को भी उसके अनुरूप स्थान दिया ? छितवन की-सी गन्ध पाकर मदोन्मद गज भारतीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में सर्वप्रधान उपमानों में जा बैठा, पर छितवन बेचारे की ओर किसी ने एक दृष्टिपात तक नहीं किया ? सब उसकी अयुग्मच्छदता और विषमानता ही निहारते रहे, इसकी सुरभि

के मर्म तक कोई पहुँच ही नहीं सका। छितवन है ही इसी प्रकार का। दूर से गंध को छोड़कर कोई अन्य आकर्षण नहीं और समीप आने पर उसमें गन्ध को भी कोई विशेषता नहीं। पार्थिव यौवन का आगम जितना मनोहारी होता है, उतनी उसकी वास्तविकता नहीं, इसीलिए 'श्रुत रागिनी यदि मधुर है तो अश्रुत रागिनी मधुरतर' और अधकपटी गति मधुरतम। पर इसका अर्थ यह नहीं कि आभास से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, कदापि नहीं। बिना भीतर पैठे इसकी समानता का भी अनुभव हो नहीं सकता और बिना इस अनुभव के मनुष्य का जीवन अधूरा है, यौवन की विषयैषणा जीवन की तैयारी के लिए आवश्यक ही नहीं परमावश्यक है इसे जानते थे···

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

के समन्वित चित्र का आत्म-दर्शन करनेवाले; इसे जानते थे···

विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारेस्थितम्॥

उस अद्वैत प्रेम की स्थापना करनेवाले थे भवभूति, और इसे जानते थे शृंगार की गाथाएँ गानेवाले जनकवि, जिन्होंने एक भी उपभोग का पक्ष, एक भी कोना अछूता नहीं छोड़ा और जिनकी वाणी में प्रथम वार यौवन-काव्य की अधिदेवता राधा का नाम आया। इसे नहीं जाना है अटपटे संतों ने और उनके अनुकरण के पीछे प्राण देने वाले पिछली खेवा के कवियों ने। व्यक्ति की विलक्षण अनुभूति में विश्वास करने वाले लोगों से आशा भी इसी की की जा सकती थी। वे शेली, कीट्स, टेनीसन और ब्राउनिंग का अनुसरण भाषा में और अभिव्यक्ति में तो करते चलते हैं, पर कभी उन्हें यह सोचने का अवकाश मिलता है कि शेली में शैली ही की द्रुतशीलता नहीं, जीवन की भी द्रुतशीलता है और पछुवा हवा को चुनौती देनेवाला अदम्य वेग है, कल्पना की केवल रंगीनी ही नहीं, अनुभव की सूक्ष्म बारीकी भी है; कीट्स अभिव्यंजक शब्दों से ही केवल

मणिखचित और विजड़ित नहीं, वह पार्थिव गन्ध की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियों जटित और मदगस्त है, वह उपभोग की स्थिरता में अवस्थित है, टेनीसन की भाषा मात्र लय और संगीत से विहसित नहीं, उसकी भावना भी लेडी ऑफ़ शैलाट की करुणा से द्रवित है, ब्राउनिंग तो जीवन के यथार्थ में धुं-कू के संघर्ष ही में, निरन्तर प्रयत्न की विरसता ही में, सौन्दर्य और मंगल देखते हैं। काश कभी उन्हें यह सब सोचने का अवकाश मिलता तो अपनी ऊँची दूकान में इतना फीका पकवान सजाकर नहीं रखते !

छितवन की छाँह हमें मिलती है मधुमास की नई सन्ध्या में और वह फिर मिलती है कुआर की उमसी दोपहरी में। वह यौवन के चढ़ाव और उतार का मापदण्ड है। चढ़ते समय चढ़ाई के रंग और उमंग में और उतरते समय उतरने की खुमारी में लोग इसे भर आँख निहार नहीं पाते और जान नहीं पाते कि यह क्या है ? इसीलिए बहुत-कुछ इसके बारे में कही-अनकही ही रह गयी है। अपनी बात मुझे याद है, मधुमास की नयी सन्ध्या थी, चारों ओर दखिनैया की नयी चेतना का संस्पर्श, रस का उमड़ता ज्वार, अनार, कचनार और किंशुक के फूलों की लपट एवं कोकिल की काकली की स्वर-लहरी की गूँज अभिव्याप्त। मैं अपने छितवन सरीखे दो उन्मादी मित्रों के साथ घूमने निकला था। रास्ते में एक बगीचा पड़ता था जिसके प्रवेश-द्वार पर ही छितवन की छाँह मिलती थी, उस उपवन में जाने और वहाँ से निकलने का एक यही द्वार, इसलिए घूम-घामकर लौटते हुए भी फिर इसी छितवन की छाँह मिलती थी। ठीक इसी के बगल में एक चौरस रास्ता चला गया था मरघट की ओर। कभी-कभी हम मरघट भी घूम आते थे और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का महानिलय भी देख आते थे उन खोपड़ियों के रन्ध्र से आने वाली मुखर बयार में। छितवन की वह मेरी पहली पहचान है और आज मुझे इतना गर्व है कि वह पहली पहचान ही पूरी पहचान रही, अपनी समग्र दुर्बलता और क्षमता को समेटे हुए। उसी समय यौवन का नश्वर और अनश्वर दोनों रूप अलग-अलग मन में बस गये, इसका मुझे बहुत बड़ा

सुख है। मरघट जाते समय इसके नीचे छँहाते, और लौटते समय भी, जाते समय एक अनजानी-सी सिहरन होती और लौटते समय एक विचित्र-सी निर्भयता। मृत्यु का साक्षात् रूप न तो जाते समय मिलता और न लौटते समय तक उसके ऊपर विजय ही मिलती, पर जाती बार की सिहरन, लौटती बार की निर्भयता, आज भी स्मृति में सत्य बनी हुई हैं। यही नहीं, उस छितवन की छाया से जब हम बगीचे की ओर मुड़ते तो भी एक तरुण-सी अतृप्ति रहती, एक सहज-सी उत्कंठा, और जब हम लौटकर फिर वहाँ आते तो ऐसा लगता कि हम आकण्ठ परितृप्त हैं, कहीं कुछ तृप्तिप्रद है ही नहीं। यह अभाव और पूर्णत्व की भावना तभी न जाने कैसे विकसित हो गयी, नहीं जानता किस प्रेरणा से, हाँ, इससे जीवन को बहुत बड़ा सम्बल मिल गया, आगे का कंटकाकीर्ण पथ सदा के लिए सुरभित हो गया और ध्येय अत्यन्त स्पष्ट और उज्ज्वल। धूमिल ध्येय के पीछे भटकने की मनोवृत्ति नहीं बनी।

छितवन की दूसरी पहचान है मुझे। यौवन की रात्रि के प्रथम प्रहर में, विश्वविद्यालय के जीवन का लगभग अन्तिम सिरा और घेरे में बन्द होने की पहली तैयारी, मैं अपना गौना कराके लौट रहा था और छितौनी घाट पर पहली रात के पहले पहर में इस छितवन की छाँह में, मैंने लाल और गूजी तरल आँखों में उत्कण्ठा की सफेद डोरी देखी, शिविका की यात्रा से श्लथ अंगों में एक नया आह्वान देखा और आस-पास के सारे धूमिल वातावरण में एक बन्दी और पकड़ने का एक अपूर्व उल्लास। जेठ के दिन थे, छितवन के गन्ध की मादकता कुछ स्थिर हो चली थी। इस छितवन में मधुमय बन्धन भरे आने वाले गृहस्थ जीवन की आधी झलक थी और इस छितवन में थी उसके स्थिर प्रेम के नीचे बैठी हुई वासना। १९४२ के आन्दोलन के उन्मादी दिन पीछे छूट चुके थे और उसी के साथ पीछे छूट चुका था क्रान्ति का नया उन्माद भी। कालिदास और बाणभट्ट की अब कुछ मीमांसा करने लायक बन गया था और उसी समय गले में यह रेशमी डोर इस छितवन की छाँह में पहली बार अपनी असली

माने में आ पड़ी, क्योंकि फणि-पीड़न, हृदय-स्पर्श और शुभ-दृष्टि पर अभी मुहर नहीं लगी थी। उसकी बाकायदा रजिस्ट्री आज हुई और हिब्बानामा पक्का हो गया, इस छितवन को साक्षी देकर। आज भी वह्नि और सूर्य से, संध्या और रात्रि से, मित्र और वरुण से तथा गौरी और गणेश से इस साक्षी को मैं कम महत्त्व नहीं देता, ये देवसाक्षी कर्तव्य के साक्षी हैं, प्रेम के नहीं, पर यह छितवन साक्षी है मेरी प्रीति का, मेरी प्रीति के प्रथम उत्सर्ग का और उसकी प्रथम प्राप्ति का। मेरे कुसुमित यौवन के दूसरे मोड़ पर का यह साथी, अब तक न जाने कितने प्रणय-कलहों के नयन के बीच, न जाने कितनी विकृत जीवन की दुर्गन्धों के बीच, न जाने कितनी विरसताओं के बीच स्नेह की समरसता का सम्बल देता रहा है। तब से न जाने कितनी बार दीये में स्नेह भरा गया होगा, न जाने कितनी बाती पूरी गयी होगी और न जाने कितना तम हरा गया होगा, पर जीवन-दीप की अखंड ज्योति की प्रेरणा मुझे मिली है, इस दूसरे छितवन की छाया से !

आज मैं तीसरे मोड़ पर खड़ा हुआ हूँ। बस जेठ से आगे भादों-कुआर समझिये। अभी कम्पनी बाग में से घूमकर लौटा हूँ। वहाँ भी लौटते हुए एक अकेला छितवन का पेड़ मिला। देखा, उसकी मादकता अब अपने में ही मिल गयी है और उसकी तीव्रता तलछट में एकदम बैठकर स्थिर हो गयी है। ऊपर अब हलका-सा नशा रह गया है। असली नशे ने तो अन्तरतम में बसेरा ले लिया। बाहरी दृष्टिवाले कहेंगे कि नशा उतर चला, पर मैं तो यही कहूँगा कि नशा और गहरे रंग में चढ़ चला, अब कभी उतर नहीं सके ऐसी गहराई तक यह पहुँच गया। मानता हूँ सावन की हरियरी नहीं, जेठ की प्रखर प्रभा नहीं और वसन्त का जाफरानी रंग नहीं, निरभ्र दुग्ध-धवल शुभ्रता में प्रकृति निखर उठी है और इसके शुभ्र और उज्ज्वल आलोक में गगन की शून्यता भी खिल उठी है। इसकी प्रसादी पाकर ही गगन-विहारिणी, मराल-वाहिनी भारती को इतनी उड़ान भरने का बल मिल सका है और अब उड़ान भरकर वहीं

एक बार वह पुनः विश्राम लेना चाहती है। इस भवाम्बुधि में उड़ते-उड़ते इसी छितवन के जहाज़ पर आकर विश्राम लेना पड़ता है, पार्थिव प्रेम की यही सार्थकता है। इसको 'विश्रामो हृदयस्य' कहने वाले भवभूति इस तीसरे छितवन की चौमुहानी पर पहुँच चुके थे और 'घर वही है जो थके को रैन भर का हो बसेरा' की उक्ति भी इस अनुभूति की परिणति के अनन्तर ही सम्भव हुई है। आज का छितवन पार्थिव जीवन के संचित स्नेह का प्रतीक है और इसमें उस जीवन की समष्टि, सिमटकर लुका-छिपी खेलते-खेलते सदा के लिए नवीन हो गयी है। छितवन की छाँह दोनों है, आँख-मचौनी की दौड़धूप और उसकी मीठी थकान। यही उसकी पूर्णता है।

यह तो छितवन के बारे में अपने मस्तमौला लोगों की बात हुई जिन्हें 'माँगि के खाइबो मसीत को सोइबो, लैबो को एक न दैबो को दोऊ' का परम निश्चित जीवन बिताते हुए समस्त जगत् के ऐश्वर्य को लात मारना है, पर कुछ लोक के मन की भी बात सुनी जाए। लोक में छितवन के बारे में प्रसिद्धि है कि इसकी छाया में जाते ही आदमी के सब पुण्य खतम हो जाते हैं, इसीलिए इसे कोई लगाता नहीं। यह अपने-आप धरती फोड़-कर छितराकर इतराता है। उस लोक के है भी यही अनुरूप, जिसमें दीये की बत्ती 'बुझायी' नहीं जाती 'बढ़ायी' जाती है, जहाँ मृत्यु-तिथि को पुण्य-तिथि कहा जाता है, जहाँ विपत्ति सिर पर रहती भी है तो ग्रहों के ऊपर दोष मढ़ा जाता है तथा वहाँ अमंगल को स्वप्न में भी स्थान नहीं मिलता है और दिन-रात मंगल का ही गान होता रहता है।...जब कि ठीक इसके विपरीत मंगल की छाती पर चौबीसों घंटे अमंगल सवार रहा करता है। वहाँ परम मंगल के महासाधक योगीश्वर शिव नहीं न्यौते जाते, विघ्नायक गणेश की वन्दना पहले होती है, वहाँ निःश्रेयस-पथ के पथिक संन्यासी का दर्शन अशुभ, और पाप की तीर्थयात्रिणी शुभ-दर्शन मानी जाती है। लोग आपात मंगल के आगे कुछ सोच नहीं पाते, क्योंकि परम मंगल तक पहुँचने के लिए बीच में अमंगल का गहन जंगल

पड़ता है। उसमें पैठने का लोगों में साहस ही नहीं होता। अब इनके लिए कोई क्या करे ? हम तो ठहरे श्मशान-साधना के कापालिक, हम अमंगल के शव की छाती पर बैठकर उसे शिव में परिवर्तित करने का संकल्प लेकर आये, हम जानते हैं कि पृथ्वी पर यौवन विनाश के असंख्य छिद्र लेकर आता है, दुर्बलताओं की आँधी लेकर आता है, लेकिन साथ ही जल-प्रपात का उद्दाम महावेग भी। हम जानते हैं कि इस यौवन की बुराई करते-करते नीतिकारों का तालू सूख गया है। हम जानते हैं कि अनुभव का लम्बा मुँह लटकाये बहुत-से लोग अपनी भूलों की गाथा से हमें चेतावनी देने लगेंगे, परन्तु हम विवश हैं, पुण्य का क्षय हो जाए, हम तो छितवन की छाँह को पुण्य से भी महान् मानते हैं।

पुण्य का क्षय ? इससे भयभीत कौन होता है जो पाप की गठरी से घबराये, पर हमारे लिए तो दोनों एक-से बोझीले, शायद पाप से अधिक बोझीला पुण्य होता है, क्योंकि तत्त्वतः मनुष्य जितनी आसानी के साथ पाप का फल दुःख झेल सकता है, उतनी आसानी के साथ निर्विकार भाव से पुण्य का फल सुख नहीं भोग सकता है। जनक जैसे विदेह राजभोगी विरले होते हैं, अधिकतर लोग पुण्य के मोह से चिपके रहते हैं और अपनी सन्तति-परम्परा के लिए भी पुण्य की जाली बुनके जाना चाहते हैं। न जाने लोग क्यों भूल जाते हैं कि मोक्ष के लिए पाप के क्षय से पुण्य का क्षय अधिक आवश्यक है, और पाप का क्षय परिताप से हो भी जाय, पर पुण्य का क्षय शीघ्र नहीं हो पाता, लोग बड़े कंजूस हो जाते हैं। इसीलिए हम क्यों घबराएं इस छितवन की छाँह में बिलमने से और पार्थिव जीवन का पूरा उपभोग करने से ? पुण्य का बन्धन कट जाए, पाप के बन्धन के लिए हरि-भजन कर लेंगे। रही बात घर-घर घाट-घाट छितवन के पेड़ लगाने की, उसकी सलाह न दूँगा, क्योंकि सबका मन एकसा नहीं होता और सब अपने जीवन के साथ इतना बड़ा जुआ खेलने को तैयार नहीं मिलते। जहाँ मरघट होगा छितवन का पेड़ मिलेगा ही, चिता की चिरायंध गन्ध का प्रतिकार देने के लिए, और मरघट न होगा तो मनुष्य

सियार और कुत्ता बन जाएगा। छितवन के लिए किसी वनमहोत्सव की अपेक्षा नहीं, वह मरघट का शृंगार है। वह मिट्टी के शरीर का उत्कर्ष है और शरीर के मिट्टी में मिल जाने पर उसका एकमात्र अवशेष। इसकी छाया में आने वालो, सँभल क आना, सोच-विचार के आना, अपना सुकृत लुटा के आना और आना तो फिर कभी रोना नहीं, इस पार्थिव साधना में जिसका दूसरा रूप सच्ची साहित्य-साधना ही है, दुख की आशा करके आना और तब अनन्त मस्ती लहराती मिलेगी, जहाँ आने पर लौट के जा न सकोगे, श्रुति पुकार रही है···'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते'।

एकता और सामंजस्य के लिए

●

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

"गांधीजी की आखिरी वसीयत है आपके पास ?"

बन्धुवर श्री पूर्णचन्द्र विद्यालंकार उस दिन मेरी कोठरी में आते-आते ही बोले, तो मैंने कहा, "क्या करना है गांधीजी की आखिरी वसीयत को ? वह तो लावारिस सम्पत्ति है; क्योंकि जिनके नाम वह की गई थी, उन्होंने उसे स्वीकार ही नहीं किया !"

पूर्णचन्द्रजी बहुत दूर तक निराश नहीं होते। बोले, "जिनका उसमें निष्ठा है, उन्हीं की है वह सम्पत्ति, इसलिए वह लावारिस नहीं है। आपके पास हो, तो मुझे दीजिए !"

मैंने मनु बहन की पुस्तक 'अन्तिम झाँकी' उन्हें दी, तो वे मेरी खटिया पर बैठ उसे पढ़ने लगे। कभी आँखों के पास करते, कभी दूर; मुझे लगा कि उन्हें पढ़ने में असुविधा हो रही है। पूछा, "क्यों, जेब में चश्मा नहीं है क्या ?"

"चश्मा ?" वे एक ग्राम मुद्रा में हँसे, "चश्मा तो मैंने लिया ही नहीं है !"

सिद्धान्तवादी आदमी थोड़ा झीलू तो होता ही है, पर उम्र का पचासा पार हो गया और मियाँ ने चश्मा अभी लिया ही नहीं; बड़ा अजीब-सा

लगा मुझे। कहा, "चश्मा तो गांधीजी भी लगाते थे, फिर आप ही आँखों की यह जम्नास्टिक क्यों कर रहे हैं ?"

एक खास मुद्रा में वे फिर हँसे और तब बोले, "यह सिद्धान्त का नहीं, भावना का प्रश्न है। जब विवाह के बाद दयाजी मेरे साथ आयीं और गाँव में सेवा का काम करने लगीं, तो मुझे अनुभव हुआ कि उनकी नज़र कमज़ोर है। मैंने उनसे चश्मा ले लेने को कहा, तो बोलीं, ग्राम-सेवा का जो जीवन हम लोगों ने स्वीकार किया है, उसमें इस उम्र में चश्मा लगाना फ़ैशन समझा जायेगा और गाँव की सामान्य महिलाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करने में बाधक होगा। कमजोर दृष्टि से और भी बहुत-से लोग काम चलाते हैं, मैं भी चला लूंगी।"

उन्होंने चश्मा नहीं लिया और जीवन के पन्द्रह वर्ष यों ही बिता दिए। अब जब कभी मेरे चश्मा लेने की बात आती है, तो मन में प्रश्न उठता है, मेरे जीवन-धर्म के कारण दयाजी ने चश्मा नहीं लिया और कमज़ोर दृष्टि से ही काम चला लिया, तो क्या मेरा चश्मा लेना उचित होगा ? मेरी आत्मा ने इस पर कभी हाँ नहीं कहा और इसीलिए मैं भी अब दयाजी की तरह कमजोर दृष्टि से ही काम चला रहा हूँ।

सुनकर मन में इतने विचार उठे कि भीड़ लग गई और उनमें से किसी का चेहरा पहचानना ही कठिन हो गया। कुछ देर में एक विचार साफ-साफ सामने आया, पत्नी तो पागल थी ही, पति भी मूर्ख है।

विचार गरम था, उसकी व्याख्या में भी नरमी न आई, लोग चश्मा लगाने को फ़ैशन समझेंगे, इसलिए ग्राम-सेवा की साधना करने वाले कार्यकर्ता की पत्नी को अन्धा होने का खतरा मोल लेना चाहिए और क्योंकि पत्नी यह खतरा उठा चुकी है, इसलिए उस कार्यकर्ता को रक्षा की व्यवस्था सम्भव होते भी सूरदास होने की तैयारी करनी चाहिए, क्या जोरदार जोड़ी है !!

मन में गरमी की आँधी उठ आई और मैं जाने क्या-क्या सोच गया। आँधी उड़ा ले जाती है कहीं-से-कहीं और इस समय मेरा मन भी उड़ा

जा रहा था कहीं-से-कहीं, तो जा टिका हरद्वार में। यह हो रहा है १९५० का कुम्भ। कुम्भ में एक प्रबन्धक थे श्री वीरेन्द्र प्रताप साही—सहारनपुर के जिलाधीश। ठीक कुम्भ के दिन जिले में कहीं-कहीं साम्प्रदायिक तनाव हो गया, तो सुबह-ही-सुबह वे वहाँ चले गए। झाँकियों का समय हुआ, तो मैंने उनकी पत्नी श्रीमती गिरिजाकुमारी साही को उपयुक्त स्थान पर खड़ी एक मोटर में बैठा दिया, जहाँ से वे झाँकियाँ देख सकें और मेले के जन-जीवन का अध्ययन करने चला गया।

कोई दो घण्टे बाद मैं लौटा, तो श्रीमती साही आराम से बैठी थीं। मैंने पूछा, "कहिए, नागे साधुओं की झाँकी कैसी रही ?" वे चुप और चेहरे पर भी एक अजीब-सा भाव, तो मैंने कहा, "शायद आपको यहाँ से ठीक दिखाई नहीं देता। ठहरिए, मैं यह मोटर कुछ और आगे बढ़वा देता हूँ।"

बोलीं, "ना, मोटर तो ठीक है, हमारी आँखें ठीक नहीं हैं।"

"आँखें ठीक नहीं हैं ?" मैंने आश्चर्य से पूछा, तो बोलीं, "हाँ बिना चश्मे के काम नहीं करतीं और चश्मा कैम्प में रह गया है।"

"मैं लाता हूँ आपका चश्मा।" मैंने कहा, तो उन्होंने मना कर दिया, "मैं मँगवा लूँगी, आदमी तो पास है ही।"

निश्चिन्त हो मैं अपने काम पर चला गया और चार बजे लौटा, तो श्रीमती साही अपनी जगह बैठी थीं, पर चश्मा उनकी आँखों पर नहीं था। आश्चर्य से मैंने पूछा, "आपने चश्मा नहीं मँगाया ?" बड़ी शान्ति से उन्होंने उत्तर दिया, "ना !" विस्मय से मैंने पूछा, "फिर आपने झाँकियाँ कैसे देखीं ?" बोलीं, "देखी ही नहीं।" मैं परेशान हो गया, "क्यों ?" बहुत शान्ति से बोलीं, "महीनों से वे (साही साहब) कुम्भ के प्रबन्ध में लग रहे थे, पर सूर्योदय से पहले ही उन्हें जाना पड़ा, तो जब उन्होंने ही झाँकियाँ नहीं देखीं, तो मैं क्या देखती ? भगवान् की कृपा है कि चश्मा कैम्प में ही रह गया।"

सुनकर मन श्रद्धा में डूब गया और सोचा, 'ओह, यह है नारी का

धर्म, पति के जीवन में जीवन का समर्पण, त्याग की भावना कि पति को जो सुख प्राप्त नहीं है, उसे पत्नी भी ग्रहण न करे—सुख-दुःख की संगिनी अर्धांगिनी, और तभी मुझे याद हो आई अन्धे राजा धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी, जिसने पति को दृष्टि-सुख से वंचित देख, अपनी आँखों पर जो पट्टी बाँधी वह फिर जीवन-भर बँधी ही रही !

आँधी रुक जाती है, तो घुटन महसूस होती है मैं भी घुट रहा हूँ इस विचार से कि जिस तर्क-प्रणाली से, विचार-दृष्टि से श्रीमती साही और श्रीमती गान्धारी पवित्र हैं, प्रशंसनीय हैं, उसी दृष्टि से भी श्रीमती दयाजी और भाई पूर्णचन्द्र प्रशंसनीय क्यों नहीं हैं ?

घुटन के वातावरण में ताज़ी हवा का शीतल झोंका आ रहा है, श्रीमती साही के संस्मरण में और श्रीमती गान्धारी के इतिहास में नारी के, पत्नी के उत्सर्ग की दूज का मांगलिक चाँद है, तो दयाजी और पूर्णचन्द्र के निर्णय में दाम्पत्य की पूर्णता ही है कि जो एक का है, वही दूसरे का है—कहें जीवन में जो कुछ है, वह दोनों का है—द्वैत शारीरिक है, बाहरी है, अद्वैत आन्तरिक है, वास्तविक है—सत्यं, शिवं, अद्वैतम् ।

तर्क बुद्धि का बेटा है और बुद्धि संशयात्मा है। संशय उस साँप की तरह है, जो चोट खाकर मरते-मरते भी एक बार फन उठाकर फुंकारता है, तो मन जब प्रशंसा से भरा था, निन्दात्मक संशय ने सिर उठाया—यह भी कोई बात है कि मूर्ख लोग फ़ैशन कहेंगे, इसलिए एक ग्राम-सेवक की पत्नी चश्मा न लगाये और वह लोक-लाज का शिकार हो ही गई, तो उसका पति भी अन्धा होने की मूर्खता को जीवन की कोई खास बात समझे ? फिर पति अपने पवित्र कर्तव्य का पालन करने के लिए अचानक चला गया और कुम्भ न देख सका, तो उसकी पत्नी कुम्भ में रहते भी कुम्भ न देखे और इसे अल्ला-मियाँ के सेक्रेट्रियेट का करिश्मा बताये !!

संशय विश्वास की चट्टान में पहला छेद करने में हमेशा सफल हो जाता है, भले ही बाद में पानी पर फैली काई की तरह यह छेद फटकर तुरन्त भर भले जाये, तो संशय का इन्द्रजाल सफल हुआ—ठीक तो हैं

कि इन उदाहरणों में प्रशंसनीय क्या है, कुछ भी नहीं—सस्ती भावुकता है यह, एकदम विशिष्टता का दम्भ !

"लो, ये कचौरियाँ खा लो !"

"और तुम ?"

"मैं बाज़ार में ही खा आया हूँ ।"

कहाँ चश्मा, कहाँ कचौरियाँ ! ओह, कहाँ-से-कहाँ चला गया ध्यान—मेरे जीवन के कितने मार्मिक क्षण थे वे ! दोपहर का भोजन करते समय ही यह मालूम हो गया था कि घर का अन्तिम खाद्य यही है और दिन में नया आयात न हुआ, तो शाम को उपवास करना पड़ेगा, पर आयात के लिए पैसा चाहिए और पैसे के लिए जीविका । मैं बेकार और घर में पत्नी एवं दूध-पीती बालिका—खानेवाले तीन मुँह और जेब में दो आने । रोज़गार न हो, तो उधार का सहारा है । आधे दिन घर में बैठे पत्नी ने प्रयत्न किए और बाहर घूमते मैंने, पर उधार अनिश्चित वृत्ति है; क्योंकि उसकी सफलता दूसरे के हाथ है और असफलता भी । संयोग की बात हम दोनों असफल रहे और शाम को जब हम मिले, तो एक-दूसरे के प्रति आशान्वित थे, शीघ्र ही दोनों निराशा में साझीदार हो गये ।

मेरी चिन्ता यह थी कि बच्ची माँ का दूध पीती है, इसलिए प्रभाजी को तुरन्त कुछ भोजन मिलना चाहिए । मैं बाज़ार गया और दो आने की दो गरम कचौरियाँ ले आया । १९२७ की बात है, तब एक आने की एक कचौरी आती थी । सब्ज़ी-कचौरी का पत्ता मेरे हाथ पर और मैं उतना ही खुश, जितना आदिम पुरुष शिकार करने के बाद 'घर' लौटने पर होता था :

"लो ये कचौरियाँ खा लो !"

"और तुम ?'

"मैं बाज़ार में ही खा आया हूँ ।"

प्रभाजी ने अन्तर्वेधी दृष्टि से मुझे देखा । जिस स्कूल से मैं दर्जे चार पास, उससे वे मिडिल । बोलीं, "तीसरे पहर बहू ने मुझे आलू की पिट्ठी

के परांठे खिला दिये थे। मुझे ज़रा भी भूख नहीं है, इन्हें तुम्हीं खा लो, योंही खराब जायेंगे।"

अपनी बच्ची को अपने में समेटे पलंग पर लेटी हुई वे और पत्ते को हाथ पर थामे पलंग के पास खड़ा मैं। मेरा आग्रह कि खा लो कचौरियाँ और उनका आग्रह कि खा भी लो—दोनों अटल। मैंने कचौरियों का पत्ता खिड़की में रख दिया और पलंग पर बैठ गया कि अपने आग्रह को बल दे सकूँ। हम एक-दूसरे से उलझ ही रहे थे कि कचौरियों का पत्ता खिड़की से भूमि पर गिर पड़ा।

दोनों ने उधर देखा, तो एक नया दृश्य कि सब्ज़ी-भाजी का पत्ता ज़मीन पर और मुँह में दोनों कचौरियाँ शान से लटकाये छज्जे की तरफ भागती बिल्ली। हम दोनों ने एक-दूसरे की तरफ देखा और मन पर जाने कैसा प्रभाव पड़ा कि हम दोनों ही खिलखिलाकर हँस पड़े। तब मैंने कहा, "तुमने बहू के घर परांठे खाने का झूठ बोला, इसी कारण बिल्ली कचौरियाँ ले गयी; अब जपो रात-भर राम-राम!" प्रभाजी ने कहा, "तुमने बाज़ार में कचौरियाँ खाने का झूठ बोला, बिल्ली तो इसलिए कचौरियाँ ले गई है।" अब दोनों झूठ रंग बदलकर सच हो चुके थे, इसलिए एक बार फिर हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े और इस तरह सो गये, जैसे अभी-अभी मथुरा के विख्यात चौबों की तरह हम दोनों ने चकाचक मालटाल छका हो! मुझे खुशी थी कि मेरी पत्नी स्वयं भूखी रहकर मुझे खिलाना चाहती थी वे दो कचौरियाँ और मेरी पत्नी गर्वित थी कि उसका पति उसे कुछ खिलाने के लिए अपनी अन्तिम कौड़ी भी निछावर करने और स्वयं भूखा रहने को तैयार है।

संस्मरण के आनन्द का ज्वार उतरा, तो संशय के साँप का फन उभरा; यह भी कोई बात है कि मूर्ख लोग फ़ैशन कहेंगे, इसलिए एक ग्राम-सेवक की पत्नी चश्मा न लगाये और वह लोक-लाज का शिकार हो ही गई, तो उसका पति भी अन्धा होने की मूर्खता को जीवन की कोई बात समझे? फिर पति अपने पवित्र कर्तव्य का पालन करने के लिए

अचानक चला गया और कुम्भ न देख सका, तो उसकी पत्नी कुम्भ मेले में रहते भी कुम्भ न देखे और इसे अल्लामियाँ के सेक्रेट्रियेट का करिश्मा बताये !!

मैंने अपने से कहा, ठीक तो है कि इन उदाहरणों में प्रशंसनीय क्या है, कुछ भी नहीं—सस्ती भावुकता है यह; एकदम विशिष्टता का दम्भ !

और इन कचौरियों में क्या है ? अन्तिम पूँजी से खरीदी गयी दो कचौरियाँ, पर न इसने खाई, न उसने और बिल्ली उन्हें ले गई ! पहले तो पति बेवकूफ कि बाज़ार में ही न खा आया उन्हें—स्त्री का क्या, वे तो घर में सब-कुछ होते भी अकसर व्रत-उपवास करती ही रहती हैं। और वह ले ही आया, तो पत्नी महा बेवकूफ। वह उन्हें खा लेती, तो क्या कलियुग फट पड़ता ? मर्द तो सदा ही संकट—संघर्ष के लिए तैयार रहता है !!

मैंने अपने से कहा—ठीक तो है कि कचौरियों का यह संस्मरण हम दोनों की मूर्खता का—अव्यावहारिकता का ही संस्मरण है और यह सौ मूर्खताओं की एक मूर्खता रही कि हम दोनों उस मूर्खता पर बहुत बार गर्व का-सा सुख अनुभव करते रहे हैं कि उस दिन उन कचौरियों का न खाना कोई बड़ी बात थी—सचमुच सस्ती भावुकता; एकदम विशिष्टता का दम्भ !

नंगे पैर, कटि में साधारण अंगोछा और नंगा ऊर्ध्व भाग, यह कौन हँस रहा है खिलखिल-खिलखिल ? अरे, गान्धीजी ? ओह, इन्हें इसी वेश के कारण चर्चिल ने अधनंगा फकीर कहा था ! भला इन्होंने यह अधूरा और अजीब वेश क्यों धारण किया ?

चेतना संस्मरण में उतर गई। गांधीजी देशी जूता, पूरी धोती, ऊपर काठियावाड़ी अँगरखा और सिर पर साफा पहना करते थे। एक दिन उन्होंने एक गरीब महिला को देखा, जो इतने कम और फटे-पुराने कपड़े पहन रही थी कि कठिनता से ही उसकी देह ढँकी थी। कहें, वह अधनंगी ही थी। गांधीजी ने सोचा—मैं गरीबों को प्यार करता हूँ, अपने को

उनका सेवक कहता हूँ, पर वे अधनंगे हैं और मैं इतने कपड़े पहनता हूँ ! बस उसी दिन से गांधीजी ने उन कपड़ों का त्याग कर दिया और यह अधनंगा रूप धारण कर लिया। उनकी घोषणा थी—जो गरीबों को, सर्वसाधारण को प्राप्त नहीं है, उसे मैं भी अपने लिए ग्रहण न करूँगा। इसी भावना के कारण वे रेल की ऊँची श्रेणी में यात्रा नहीं करते थे, अँगरेज़ वाइसराय से मिलने के लिए, उनके आग्रह करने पर भी हवाई-जहाज़ में न चढ़ते थे और जहाँ तक सम्भव हो, एक गरीब की तरह ही जीवन व्यतीत करते थे।

संशय दुम दबा रहा था। मैंने उसे ललकारा—क्या गांधीजी के इस त्याग को भी मैं मूर्खता कहूँ ? संशय भाग गया था, दुविधा दूर हो गई थी और मेरा मन प्रकाश की किरणों में स्नान कर रहा था।

प्रीति दो हृदयों को एक करती है। वे दो हृदय पति-पत्नी के हों या नेता और जनता के। लकड़ी के दो तख्तों को एक कर किवाड़ या अलमारी बनाने के लिए बढ़ई जैसे रन्दे से छील-छीलकर दोनों को सम करता है, वैसे ही प्रीति दो हृदयों को समान रुचि, समान आकांक्षा और समान दृष्टि देकर एकता के लिए, सामंजस्य के लिए तैयार करती है। प्रीति का जीवन-सूत्र है—हम वह न चाहें, वह न लें, जो हमारे प्रिय को प्राप्त नहीं है, पसन्द नहीं है, अनुकूल नहीं है।

मेरा चुनाव

•

कामतासिंह 'काम'

मसल मशहूर है किसी से एक पुश्त की दुश्मनी हो तो उसको मुकदमे में फँसा दो, दो पुश्त की दुश्मनी हो तो उसको पिंगल पढ़ने में लगा दो और खानदानी दुश्मनी हो तो बस बढ़ा-चढ़ा के खड़ा करके उसको चुनाव लड़वा दो।

लेकिन पता नहीं चलता कि वे कौन हैं, जिनके बढ़ाने-चढ़ाने से मैं इस चुनाव में खड़ा हुआ। खड़ा हो गया तो कहीं जाने पर यह कहानी सुनने को मिली, पर जब तक इस पर ग़ौर करूँ मामला आगे बढ़ गया था और वहाँ से पीछे लौटना लड़ाई में असफल होने के बराबर ही था। सोच-समझकर यह तय हुआ कि डट के चुनाव लड़ना है और किसी भी हालत में नहीं बैठना है।

इस बीच रुपयों के सरसब्ज़ बाग दिखाये गये, हितमित्रों से दबाव दिलवाया गया, धमकी के खौफनाक खत भिजवाये गये, गुण्डों के हाथ की चमचमाती और लपलपाती छुरी दिखलवायी गयी। यानी मेरे खिलाफ के उम्मीदवार ने नाना प्रकारेण यह तिकड़म लगायी कि मैं बैठ जाऊँ जिससे वह निर्विरोध चुन लिया जाय।

मेरे मन्सूबे की एक और वजह थी। इस क्षेत्र के कुछ प्रभावशाली

लोगों ने मुझसे यह आग्रह किया था कि मुझे इन सब कार्यों में दिलचस्पी लेनी चाहिये ।

लेकिन खड़ा होने के बाद पता चला कि समस्या जटिल है । कम-से-कम मैं उसको जितना आसान समझता था उतनी आसान तो हरगिज़ नहीं है । तालाब में जाने के पहले तैराक तालाब की लम्बाई-चौड़ाई को ही देखता है पर कूद जाने पर उसको गहराई का पता चलता है। पहले सिर्फ यही मालूम था कि यहाँ इस क्षेत्र में एक लाख आदमी हैं जिनमें साठ हज़ार वोटर हैं । अब यह मालूम हुआ कि यहाँ जो चुनाव में खड़ा हो उसका फर्ज़ है कि हर वोटर को एक-एक मोटर दे । मैं कुछ घबड़ाया । घबड़ाया इसलिए कि अगर रुपये-पैसे का प्रबन्ध हो भी जाये तब भी संसार की तमाम कम्पनियाँ इतने कम समय में इतनी गाड़ी नहीं दे सकतीं ।

मैं इस उधेड़बुन में पड़ा कि उधर से दरबारीलालजी आये । बाल सफेद हैं, चेहरे पर झुर्रियाँ हैं, आँख में चश्मा और हाथ में छड़ी है, जिससे तुरत का लगाया तेल टपटप चू रहा है । गिनाने लगे तो क्या कहना ! विना किसी रेकार्ड के, विना कागज़ के, विना लिखे-पढ़े अपनी याद से ही अपनी उँगलियों पर वे करीब-करीब बासठ ऐसे चुनावों का नाम गिना गये जिनमें उन्होंने उम्मीदवारों की ओर से काम किया और रायसाहब, खाँ-साहब, राजासाहब, दीवानबहादुर आदि बत्तीस उम्मीदवारों के नाम-पते के साथ उन्होंने यह बता दिया कि अब तक उनका कोई उम्मीदवार असफल न हुआ । चुनाव में भी पुरानी कौंसिल का चुनाव, सेन्ट्रल एसेम्बली का चुनाव, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का चुनाव, म्युनिसिपैलिटी का चुनाव, यूनियन कमेटी का चुनाव, स्कूल कमेटी का चुनाव, केन ग्रोवर्स सोसाइटी का चुनाव, सेन्ट्रल को-ऑपरेटिव का चुनाव, छोटे-बड़े तमाम चुनावों का नाम वे गिना गये । मोटर के बारे में उन्होंने कहा कि यह बेवकूफ लोगों की सवारी है। सारा टमटम से होना चाहिए । न उम्मीदवार के पास मोटर रहे, न कोई माँगे और नहीं तो मँगनी देते-देते नाक में दम हो जायेगा । मैंने परमात्मा को धन्यवाद दिया कि वे अकस्मात मिल गये ।

दरबारीलालजी ने यह भी बताया कि हर किसी की माँग पर यहाँ हाँ कहना चाहिए। कब मिलेगा के जवाब में बहुत जल्दी कहना चाहिए। कोई भी नगद माँगे तो कहना चाहिए कि बैंक का चेक देंगे। चेक माँगे तो कहना चाहिए कि चेक बुक घर पर है। जाति के लोग मिलें तो कहना चाहिए कि अपनी जीत जाति की जीत और अपनी हार जाति की हार है। दूसरी जाति के लोग मिलें तो उनको अलग बुलाकर कहना चाहिए कि उन्हीं की जाति पर प्रेम रखने के कारण अपनी जाति के लोग उनसे बिगड़े हुए हैं। नौजवान मिलें तो कहना चाहिए कि अपना आन्दोलन नवजवानों का आन्दोलन है, बूढ़े क्या इसमें खाक भाग लेंगे; और बूढ़े मिलें तो कहना चाहिए कि अपने राम को जो भी उम्मीद है तजुर्बेकार लोगों से, आजकल के नवसिखुए छोकरे तो कुछ समझते ही नहीं। किसान मिलें तो कहना चाहिए कि अपने राम को तो किसानों के दुख ने ही खड़ा होने को मजबूर किया है और जमींदार मिलें तो कहना चाहिए कि अगर गयी जमींदारी वापस न आई तो अपने राम इस मेम्बरी पर लानत कर देंगे। सब कहकर दरबारीलाल ने यह भी साफ कर दिया कि वे जो शिक्षा दे रहे हैं उसका प्रयोग उन पर नहीं होना चाहिए। उनको पचीस रुपये रोज मिलना जरूरी है। मैंने उस रोज का पचीस रुपया उसी वक्त दाखिल कर दिया।

तब मैंने उन लोगों की तलाश की जिनका कुछ भरोसा मुझे था और जिन्होंने मुझको खत लिखकर बुलवाया। मालूम हुआ कि कल उन्होंने विरोधी पार्टी की मीटिंग करवायी थी। उनके दरवाज़े पर गया। दबी जबान से मैंने पूछा, "आप लोग तो मेरे साथ हैं, फिर सुनने में आता है कि यहाँ विरोधी पार्टी की मीटिंग हो गयी, सो कैसे ?" उनमें से एक बोला, "आपकी राह हम लोगों ने पाँच रोज देखी। न आये तो क्या करते ! हम लोग बैठ के खाने वाले नहीं हैं। कुछ काम करना पड़ता है।"

मुझको बड़ी परेशानी हुई। मैंने आजिजी से कहा—"अब क्या होगा ? आखिर आप ही लोगों के बल पर तो हम खड़े हुए हैं।"

उनमें से एक बोला—"होगा क्या ? काम थोड़े ही बिगडा है। लाख

मीटिंग हो जाये वोट आपके सिवाय दूसरे को नहीं मिलेगा। लेकिन दुनिया का दस्तूर है कि प्यासा कुएँ के पास जाता है, कुँआ प्यासे के पास नहीं जाता। आपको सबके पास जाना चाहिए। हाँ, मगर सबके पास तक आप नहीं पहुँच सकें तो हम लोग उसके लिए तैयार हैं। लेकिन बिना ताल दिये तो ढोलक नहीं बजती। जितना गुड़ दीजियेगा उतना ही मीठा होगा।"

मैंने उनको कुछ खर्च दिया और चलते बने। वहाँ से दूसरे गाँव में गये। यह एक भारी गाँव है। दो रोज़ पहले यहाँ के मुखियाजी मुझसे मिले थे। यहाँ वे लोग जिनको वोट देना तय करते हैं उससे गाँव के बच्चों में पहले दो सौ रुपयों की मिठाई बँटवाते हैं। ज़माने से यही दस्तूर वहाँ चला आता है। मुखियाजी उसी रुपये के लिए गये थे। मैंने दिया भी था। देखूँ कि अब वहाँ क्या हो रहा है।

गाँव में पहुँचते के साथ देखा कि कुछ कारीगर और मज़दूर मिलकर एक छोटा-सा मकान बना रहे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि मेरे विरोधी उम्मीदवार की ओर से वहाँ स्कूल बनवाया जा रहा है। मैं मुखियाजी के यहाँ गया। ऐसा लगा जैसे उनका मुँह काला हो गया। मैंने हिम्मत करके पूछा—"यह क्या मुखियाजी ?" बोले—"कुछ नहीं, मर्द की ज़बान ही काम आती है। चाम काम आने की चीज़ नहीं। कह दिया वह होकर रहेगा। बनने दीजिये स्कूल। धर्म-धक्का है। धक्के में जो आ जाये, वह ठीक है। स्कूल आ जाये, अस्पताल आ जाये, पुस्तकालय आ जाये, सड़क आ जाये, सबका स्वागत है। पर वोट अन्ततः आपका है। लड़कों का मुँह मीठा हो चुका। आपकी मिठाई खा चुके। आपका गुण गा रहे हैं। जब स्कूल बनेगा, लड़के उसमें पढ़ेंगे तब न उनका गुण गायेंगे। तब तक तो चुनाव खतम हो जायेगा।"

मैं निश्चिंत होकर आगे बढ़ा। दूसरे गाँव में पहुँचा। महेशसिंह के दरवाज़े पर गया। मालूम हुआ यहाँ लोग हमारे पक्ष में हैं। भगवान् को धन्यवाद देता हुआ मैं आगे बढ़ गया, पर आदमी सोचता कुछ और है

नियति करती कुछ और है । उसी गाँव के सुरेशसिंह से दूसरे दिन बाज़ार में मुलाकात हुई । मैंने हालचाल पूछा । बोले—"वोट तो आपका था पर आपने अपनी मूर्खता से उसको बिगाड़ दिया । आप गाँव में जाकर महेश सिंह के दरवाज़े पर क्यों बैठे ? उनको कौन पूछता है ! उधर फेंकार फेंकरने नहीं जाता, सियार और कुत्ते भूंकने नहीं जाते । वह तो मच्छी मारता अकेला बैठा रहता है । हाकिम, सूबा, डिप्टी, कलक्टर—जो आते हैं सीधे मेरे दरवाज़े पर आते हैं । साधु हो, फकीर हो, भिखमंगा हो या किसी राहगीर को राह में रात हो जाये, सब मेरे यहाँ रहते हैं, फिर किस अक्ल से आप उसके दरवाज़े पर गये पता नहीं चलता । मैं सन्न, काटो तो खून नहीं । दरबारीलाल ने ऐसे मौके के लिए कुछ भी सलाह नहीं दी । तब भी मैंने दावे के साथ कहा, "अब से दस रोज़ तक हर रोज आपके दरवाज़े पर आऊँगा ।" वे बोले—"काम बिगाड़ के आने का क्या लाभ ? अब चिड़िया खेत चुग गयी अब क्या होगा ?" मैंने कहा—"चिड़िया को दाने उगलने पड़ेंगे । उसके पेट में से दाना निकाला जायगा । आपकी कृपा चाहिए । यहाँ नहीं, बस आपके दरवाज़े पर आकर मैं आपसे बात करूंगा ।"

रात को दरबारीलाल से भेंट हुई । उन्होंने दिन-भर का हिसाब पूछा, मैंने सब बताया । वे बोले—"आप गलती कर रहे हैं । चुनाव वही लड़ सकता है जिसकी जेब में जादू हो, मुख पर मुस्कान हो, मूंछ पर शान हो, पेट में बावन हाथ की अंतड़ी हो, पैर में चक्कर हो, दिल में कुछ और हो और ज़बान पर कुछ और हो । अगर देना ज़रूरी हो जाय तो बस उम्मीद दीजिये, अगर कुछ करना ज़रूरी हो जाय तो बस हाँ-हाँ कर दीजिये । जहाँ ढीले हुए हालत खराब हो जायेगी । घबराये तो हार जायेंगे और मन की बात ज़बान पर आ गयी तो कौड़ी के तीन हो जायेंगे । गाँठ बाँधिये, खोलिये मत, हाथ जोड़िये, बोलिये मत । इन मन्त्रों को याद रखिये और आपका बेड़ा पार है ।" दरबारीलाल से बात करने के बाद कार्यकर्त्ताओं की सभा में गया । बहुत-से कार्यकर्त्ता इकट्ठे थे । जाते के

साथ ही लोगों ने कहा कि कुछ नाश्ता-पानी आना चाहिए। मैंने जेब से पचीस रुपये निकालकर दिये। हँसी-खुशी और मौज-मज़ा के दरमियान लोगों ने चाय पी और मीटिंग का श्रीगणेश हुआ। सर्वप्रथम सभापति जी ने लोगों से राय माँगी कि चुनाव जीतने के लिए क्या-क्या किया जाये।

सरजूजी बोले—"सवारी में कुछ हाथियों की ज़रूरत है जिससे हम लोग हर जगह जा सकें।"

नगेन्द्र बोला —"हाथी देखकर ही लोग बिगड़ जायेंगे। आजकल देहात की मनोवृत्ति अमीरों के खिलाफ है। कुछ घोड़ा-टट्टू का प्रबन्ध हो तो अच्छा है कि काम भी बने और खर्च भी कम पड़े।"

बहादुर बोले—"सवारी न मिले न सही। कार्यकर्त्ताओं की जान तो बचनी चाहिये। देहात में आजकल मच्छर काटता है और थोड़ी भी परेशानी होती है तो दवा के लिए शहर में आना पड़ता है। हर कार्यकर्त्ता के साथ एक मच्छरदानी और दवाइयों का एक बक्स होना चाहिए।"

सियाराम ने जोश के साथ कहा—"दुःख है कि आप लोग सब अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। दरबारी न रहे न सही, जान भी चली जाये तो चली जाये, पर काम तो हो। उस पार्टी की ओर से गाँव-गाँव में लेमनचूस बँट रही है। हम लोगों को भी एकाध मन लेमनचूस मँगा कर बच्चों में बाँटना चाहिये। बहुत-से वोटर बीड़ी-सिगरेट माँगते हैं, इसलिए हर कार्यकर्त्ता को अपने साथ पाँच सौ बीड़ी और पचास सिगरेट ज़रूर रखना चाहिये। फिर उधर के लोग मारपीट पर उतारू हैं, इसलिए हर कार्यकर्त्ता के हाथ में कुछ हथियार रहना चाहिये।"

तब तक नरेन्द्र बोले—"सब फालतू बात है। अब समय नहीं रहा कि एक-एक वोटर के पास पहुँचा जा सके। हवाईजहाज़ से पर्चा गिरा-कर सारे क्षेत्र में अपील होनी चाहिये।"

सियाराम ने कहा—"मैं अब हवाईजहाज़ की सलाह नहीं दूंगा। जो भी काम हो रहा है, नहीं होगा। हवाईजहाज आने से पहले तो कार्य-

कर्त्ताओं में लड़ाई हो जायगी। सब कहेंगे कि हम चढ़ेंगे और जिनको नहीं चढ़ने दिया जायगा वे बिगड़ जायेंगे।"

पंडितजी बोले—"कुछ हो या न हो। हर कार्यकर्त्ता के साथ एकाध ढोल बजाने वाला या बाजे वाला जरूर होना चाहिये। ढोल या किसी और बाजे को लेकर देहात में जायें, जहाँ बजाएँ भीड़ लग जाये और उसी भीड़ को अपना सन्देश सुना दें। लेकिन इसके बाद वोटर को लाने के लिए सवारी जरूर होनी चाहिये। बिना सवारी के वोटर नहीं आयेंगे। उनके खाने का इन्तजाम जरूर होना चाहिये।"

नथुनीसिंह बोले—"यह कहना वोटरों पर नाहक इल्जाम लगाना है। बिना सवारी के लोग आ सकते हैं पर खाना जरूर चाहिये।"

मैंने कहा—"पर सवारी या खाना दोनों में से एक का भी इन्तजाम करने से चुनाव नाजायज हो जायेगा।"

पंडितजी बोले—"सब कर चुके हैं। सबका ढंग मालूम है। सवारी ऐसी हो कि लोग मतदान-केन्द्र से कुछ दूर पर उतर जायें, और खाना ऐसा हो कि कार्यकर्त्ताओं को रुपया जमा करा दिया जाये। गाँव में ही बनवा के और खिलवा के लोग वोटर को ले आएँ।"

ऐसा मालूम हुआ कि थोड़ी देर और सभा चली तो एक-न-एक कोने से वोटरों के लिए कुरता और धोती की माँग भी चली आएगी। मैंने उठकर कहा—"आप लोगों का सारा सुझाव मैंने नोट कर लिया है, इन पर विधिपूर्वक विचार करके आपको सूचना दी जायगी।"

उसके बाद लोगों से बारी-बारी से बातें होने लगीं। एक सज्जन, जो मेरे बड़े हितैषी थे और बहुत चिन्तित भी नजर आते थे, अलग ले जाकर बोले—"मेरे यहाँ विरोधी का काम जग्गू साव का लड़का नग्गू साव करता है। वह बड़ा अमीर है। जेब में नोटों का बण्डल लेकर चलता है, इससे बड़ा असर हो जाता है। मेरी राय है कि दो सौ पचास से तीन सौ रुपये मिलते, तो कुछ पाँच-पाँच रुपये के और कुछ एक-एक रुपये के नोट भुनवाकर जेब में रख लेना। वह खर्च तो होना नहीं, अन्ततः आपको लौट जाता, पर अभी

दिखाने मात्र से असर हो जाता, काम बन जाता।'

फिर एक दूसरे सज्जन आगे बढ़कर बोले—"कुछ प्राइवेट बात है।" मैं अकेले थोड़ी दूर उनके साथ गया। कहने लगे—"मेरे यहाँ उधर से जो काम करता है वह तातानगर के लोहे के कारखाने में काम करता है और अभी छुट्टी में यहाँ आया हुआ है। चूँकि उसको काम लगा हुआ है इसलिए वह जहाँ जाता है उसका पूरा असर होता है। मुझको लोग बेकार समझते हैं इसलिए उतना असर नहीं होता। अगर मुझको भी एक छोटा-मोटा काम लग जाता तो मेरी बात का भी बड़ा असर होता हालाँकि अभी मैं जाता नहीं, छुट्टी लेकर यहीं काम करता और चुनाव के बाद जाता पर लोग समझ जाते कि यह भी बेकार नहीं है।"

मैं बड़ा परेशान हुआ। उधर नोटों की माँग और इधर नौकरी की माँग। इन तमाम माँगों के बीच वोटों की माँग दबी जा रही है। इन चट्टानों के नीचे दबे हुए वोट को बाहर निकलवाकर बक्से में दिलवाना आसान काम नहीं है। खैर यह तो बाद में सोचा जायेगा अभी तो कार्यकर्त्ताओं से निपटना है।

एक भाई साहब और आसरा देख रहे थे। आगे आकर बोले—"एक विवाह के काम में आपकी मदद जरूरी है। भत्तूसिंह अभी हमारी जोरदार मदद कर रहा है। उसने अपनी शादी एक हज़ार में की थी।"

मैंने समझा वे मुझसे रुपया माँगेंगे। फौरन बोला—"इतना रुपया तो मैं चुनाव के दरमियान में नहीं दे सकूँगा।" वे फिर बोले—"नहीं, नहीं, आपसे रुपया नहीं माँगता। कुछ गड़बड़ा रहा है उसी में आपकी सहायता चाहिए।"

"क्या सहायता चाहता है? लड़के के बाप के यहाँ जाना हो तो मैं जरूर जाऊँगा। इस काम में तो मुझे आनन्द आता है। भला भत्तू की लडकी की शादी और मैं मदद न करूँ!"

वे फिर बोले—"उसकी लड़की कहाँ से आयी! तीन भाइयों में से एक की भी शादी नहीं हुई है। इस बेचारे ने बड़ी मुश्किल से एक हज़ार

में एक लड़की ठीक की। पहले बातचीत हो गई। अब लड़की के बाप को कोई दो हज़ार दे रहा है, इसलिए वह बदल रहा है। उसी को समझाना है। अगर वोट होने के पहले यह शादी हो जाय तो इलाके पर ऐसा असर पड़े कि एक-एक वोट हम लोगों को मिले।'

मैं सोचने लगा कि हाय विधाता तुमने मुझे कहाँ ला के पटक दिया ! अगर खड़ा होना ही था तो ऐसी जगह से क्यों खड़ा हुआ जहाँ लड़कियों को खरीदकर शादी की जाती है। क्या वोटरों और कार्यकर्त्ताओं की बदौलत बन्दा को अब लडकियों के पीछे भी दौड़ना पड़ेगा ? क्या यह दिन भी देखना बदा है ?

मन में यह सोचने के बाद मैंने उनसे कहा कि यह सब विवाह वगैरह का किस्सा चुनाव के बाद के लिए रखिए। मैं कहीं जानेवाला नहीं हूँ। अगर मेरी ज़िन्दगी है तो भत्तू की शादी होकर रहेगी।

अब दिनेशजी बात करने आये। बोले—"आपके लिए कल एक सभा रखनेवाला हूँ। उसमें दस मानपत्र देने का विचार है।"

मैंने नम्र भाव से कहा कि वे जानें कि क्या होगा, कैसे होगा। मुझको उन बातों से क्या मतलब ?

वे बोले—"सो तो सही है। आपका यह काम है भी नहीं, पर उनके लिए पचास रुपये खर्च चाहिए। ज़रा ढोलढाक बजे, हल्लागुल्ला हो, गाँव-गँवई में खबर दी जाये तो शानदार सभा हो।"

मेरे मन में यह बात आई कि अगर अपने लिए मानपत्र का पैसा भी मुझको देना है तो ऐसा मानपत्र मिले न मिले दोनों बराबर हैं। पर चुनाव का ज़माना है इसलिए कार्यकर्त्ताओं से साफ-साफ कुछ कहने लायक भी नहीं है। मैंने रुपया निकालकर दिया।

दूसरे दिन ठीक वक्त पर मैं सभा में पहुँच गया। चुनाव के दिनों में डर भी लगता है कि देर हो गई तो लोग बिगड़कर चल न दें। पर जाकर देखता हूँ कि न एक आदमी और न आदमी का पूत, तीन टाँग का एक टूटा शामियाना खड़ा है, उसमें एक छोटी-सी फटी-पुरानी दरी

बिछी है। तब तक उधर से दिनेशजी आये। पूछा—"क्या साहब ?"

बोले—"ठीक ही है।"

मन में तो आया कि कह दूं कि अगर यह ठीक है तो सब चौपट हो गया, पर कह न सका। तब तक गांव के एक दूसरे सज्जन आये। उन्होंने कहा—"हम लोगों को तो अभी जब दिनेश बाबू आये तो सभी को बात मालूम हुई। पहले तो कोई खबर नहीं थी।"

"क्या दिनेश बाबू, आप अभी आये हैं ?" मैंने पूछा। बोले—"मैं तो सुबह ही आ जाता पर बगल में जो गाँव है उसमें ठीक किया हुआ वोट गड़बड़ा रहा था इसी में देर हो गयी। फिर मानपत्र वगैरह के लिए चला गया। बदमाश प्रेस वाले ने मानपत्र भी नहीं दिया और रुपया भी ले लिया। शाम को देने की बात हुई थी। शाम तक रुकते तो इधर सभा की फिक्र थी। उसके लिए क्या हर्ज है मैं जवानी स्वागत कर दूंगा।"

मैंने पूछा—"मीटिंग कब होगी यह तो बताइये।"

वे बोले—"अभी चार-पाँच आदमी आ जायेंगे और हम अपना काम शुरू कर देंगे। सभा से क्या होता है असली चीज़ तो वोट है सो वह ठीक है। श्यामसुन्दरजी (एक विजयी उम्मीदवार का नाम, जो मेरे पहले इस क्षेत्र से मेम्बर थे) की सभा इसी शामियाने के नीचे होती थी। कभी एकाध आदमी आये, कभी वह भी नहीं। अखबार में समाचार चला जाता था। असली तो अखबार है। यह शामियाना इतना शगुनाहा है कि जिसकी मीटिंग इसके नीचे हो गयी वह हार ही नहीं सकता। मैंने एक सौ रुपये में इसको एक महीने के लिए रिज़र्व कर लिया है जिससे विरोधी की सभा इसके नीचे चुनाव के दरमियान न हो सके।

लीजिए शगुनाहे शामियाने के नाम पर यह एक सौ की चपत और पड़ी। मैं मन-ही-मन घबड़ा रहा था कि सिवाय शगुनाहे शामियाने के और कहीं भी जीत का लक्षण नहीं है। मुझे ऐसा मालूम हो रहा था कि शायद मिस्टर सम्पत सिनेमा के परदे की तस्वीर से भागकर मेरे चुनाव के दरमियान मेरी मदद को पधार गये हैं। उनकी कृपा के लिए धन्यवाद

दूं। मेरी आंख में तो घी वाले सेठ की तस्वीर नाची और मैं काँप गया, रूह काँप गई।

कुछ लोग आ गये। सभा शुरू हो गई। हमारी ओर से अपील हुई। बाद में गाँव के एक सज्जन, जो नेता समझे जाते थे, बोले—"हम लोग देहाती हैं। हमें जो चाहे ठगे। कई बरस से हम वोट देते आ रहे हैं। कभी इनको, कभी उनको। हमें किसी ने कुछ भी नहीं दिया। हम यही चाहते हैं कि हमारे यहाँ से पक्की सड़क तक राह ठीक हो जाए। जो यह काम कर सकेगा वोट उसी को मिलेगा।"

मैंने कहा—"एवमस्तु! यह जिम्मेवारी मैंने अपने ऊपर ली। आप परमात्मा से प्रार्थना करें कि वे मुझे सफल करें।"

वे फिर बोले—"जिम्मेवारी तो आज तक न जाने कितनों ने ली। वोट के साथ जिम्मेवारी भी खतम हो जाती है। आप अगर सचमुच इसको करना चाहते हैं तो पाँच सौ रुपये कहीं जमा कर दीजिए। काम नहीं लगेगा तो रुपया सोख्त हो जायेगा।"

मेरा सिर चकरा गया। खड़ा होने के क़ब्ल अगर मालूम होता कि हमारे वोटर इतने चतुर हैं तो मैं हरगिज़ खड़ा नहीं होता। पता नहीं यह आसान बात मुझे पहले समझ में क्यों नहीं आई।

सभा खतम हो गई तो फिर कार्यकर्ताओं से बात करने का मौका आया। चुनाव में सब-कुछ होता पर यह अवसर न आता। कार्यकर्ताओं से बात करने में उम्मीदवार की रीढ़ टूट जाती है। यही वह वक्त है कि जब चुनाव में उम्मीदवार का कुल रस चूसा जाता है। मैं सुन रहा हूँ और बूढ़ा अपने लड़के को समझा रहा है। बेहूदे, हम चुनाव में काम करते-करते पक गये। जो कह रहे हैं उसको पक्का समझो। हज़ार प्रेम हो, लाख दोस्ती हो, अपने हों, या सगे हों, बस चुनाव तक। फिर फेंटा पर नहीं चढ़ेंगे। बाहर खड़े रह जाओगे, भीतर से दरवाजा बन्द कर लेंगे। बस माँग लो जो माँगना हो। ले लो, जो लेना हो।

मुझे ऐसा गुस्सा आ रहा था कि उसको दो तमाचे मारूँ। पर मन-

ही-मन उस गुस्से को मैं पी रहा था। मैंने मन में कहा कि ले लो बच्चू जो लेना हो, पर तुम्हीं से सूद समेत सब वसूल करेंगे। परमात्मा करे हम कामयाब हो जायें, फिर चाहे तुम हो या हम।

उसके बाद तो साहब वह फर्मायश शुरू हुई कि क्या पूछना! बारात की फिहरिस्त भी नीचे चली गई।

एक ने कहा कि उसके दाँत में दर्द है इसलिए वह बराबर हलुआ खाता है। घी-आटे का बन्दोबस्त होना चाहिए।

दूसरे ने कहा कि वह फला चना फाँकता था पर इस समय गाँव-गाँव दौड़ना पड़ता है इसलिए फुलाना मुमकिन नहीं, अतएव उसके लिए किस-मिस आनी चाहिए।

तीसरे ने कहा कि वे जल्दी बीमारी से उठे हैं और कमज़ोरी है इस-लिए कम-से-कम चार अण्डों का मिलना जरूरी है।

चौथे ने कहा कि उसको रात-भर जगकर काम करना पड़ता है इस-लिए चाय, चीनी, दूध, प्याले का बन्दोबस्त होना चाहिए।

गोया कुछ रोग के बहाने, कुछ काम के बहाने, कुछ पथ्य के बहाने, कुछ प्रभाव के बहाने—एक-न-एक बहाने संसार में जो कुछ भी खाने और मजा उठाने लायक है उसकी फर्मायश हो गई।

मन में मैंने कहा कि माथा मुड़ा के बेल के पेड़ के नीचे जाना अच्छा, पर उम्मीदवार बनकर क्षेत्र में जाना नहीं अच्छा।

लेकिन भागूं तो कैसे भागूं? चुरकी छूटे नहीं तो आदमी भागे कैसे?

थैली के पैसे स्वाहा हो रहे हैं, शरीर का स्वास्थ्य स्वाहा हो रहा है, जीवन का अमूल्य समय स्वाहा हो रहा है और चुनाव की भट्ठी में मान, शान, अभिमान—सब-कुछ झोंका जा रहा है।

लेकिन मैं भागा नहीं, लगा रहा। हाँ, उम्मीदवार बना रहा और एक दिन विजयी हुआ। कीमत गहरी जरूर लगी पर सफलता के कारण थोड़ी देर के लिए सब-कुछ भूल गया। किन्तु वह छीछालेदर बराबर भूलने की चीज़ नहीं। इसीलिए चुने जाने के बाद जो चस्का सवार होता है वह

मुझ पर सवार न हो सका। मैंने गरज़ यह निश्चय किया कि फिर इस फेर में बन्दा नहीं पड़ेगा, फेर में पड़ना भी क्या है? इतनी तरह के असम्भव वादे हुए हैं उनका पूरा होना दुश्वार है। वादाखिलाफी से लोग तो बिगड़ेंगे ही, फिर भला उनके पास वोट के लिए कौन जाएगा?

खैर, मैं उम्मीदवार बनूं या नहीं, मैं इस नतीजे पर पहुँच गया कि जो अपने अनुभव के कोप में बेतरह वृद्धि करना चाहे वह एक बार चुनाव में उम्मीदवार हो जाये, जो रोज़गार के मामले में बेतरह पक्का होना चाहे वह एक बार किसी उम्मीदवार का कार्यकर्त्ता बन जाये और जो जीवन में खुशामद पाने का अरमान पूरा करना चाहे वह वोटरों के एक गिरोह का सरदार बन जाये।

साइकिल

●

देवेन्द्रनाथ शर्मा

आइये, आज आपको एक नयी बात बताऊँ ! चौंकिये मत । मैं जानता हूँ कि एक दार्शनिक गम्भीरता से आप कह उठेंगे—'भलेमानस ! संसार में नयापन है कहाँ, जो तू नयी बात बताने का दम्भ कर रहा है ?' माना कि आपके कहने में भी सच्चाई है; पर बातें भले नयी नहीं हों, उनके देखने का दृष्टिकोण नया हो सकता है, उनकी व्याख्या नयी, नये ढंग से हो सकती है और यदि इतना भी हो सका तो बात नयी बन गई । पेड़ से फल का ज़मीन पर गिरना कोई नयी बात है । सृष्टि के आरम्भ से बच्चों से लेकर बूढ़ों तक, अज्ञों से लेकर पण्डितों तक के लिए यह एक अत्यन्त साधारण बात रही है; किसी को इसमें कोई विचित्रता, कोई नयापन, कोई अजनबीपन नहीं दीखा । पेड़ से फल जमीन पर गिरता है, सदा से गिरता आया है, इसमें नयापन क्या है ? पर जिस दृष्टि से औरों ने इस चीज़ को देखा था उसी दृष्टि से न्यूटन ने नहीं देखा । उसे यह बात अजीब-सी लगी । उसने सोचा—'अपनी टहनी से अलग होने पर फल नीचे ही क्यों आता है, ऊपर की ओर क्यों नहीं उड़ जाता ?' इस ऊट-पटाँग और पागलपन से भरे प्रश्न पर एक मूर्ख भी हँस देगा । पर यह साधारण-सी बात भी न्यूटन के लिए एक गहन समस्या बन गई । उसने

इसको नये दृष्टिकोण से देखा, इसकी नयी व्याख्या की, 'आकर्षण का सिद्धान्त' निकाला और संसार में अमर हो गया। तो यह पेड़ से फल का गिरना कोई नई बात नहीं है; पर 'आकर्षण का सिद्धान्त' अवश्य नया है, इसने संसार को एक नया दृष्टिकोण, एक नई व्याख्या, एक नई सूझ दी। इसका यह मतलब नहीं कि 'साइकिल' के सम्बन्ध में मैं भी कोई ऐसी बात कहने जा रहा हूँ जो मानवता के इतिहास में क्रान्ति मचा देगी और न्यूटन की तरह मैं भी अपने अभिनव सिद्धान्त के बल पर अमर हो जाऊँगा। मैं अमर होऊँ या न होऊँ, यह बहुत-कुछ आपकी कद्रदानी और बुद्धिमानी पर निर्भर है, पर आपको एक नयी बात अवश्य दे रहा हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर यदि उससे थोड़े ही कम महत्त्व का मैं अपने को अधिकारी मान लूँ तो आपको इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वक्तव्य के अनुपात से भूमिका ही लम्बी हो गई पर क्या कीजियेगा? हमारे युग का तो यह विशिष्ट धर्म ही है कि लिफाफा जितना बड़ा रहता है, काम की बातें उतनी ही कम रहती हैं। हमारे लिए असलियत कम लामकाफ़ ज्यादा जरूरी है। घंटों की बकवास में एक भी पते की बात निकल आए तो बहुत है।

पता नहीं, साइकिल के अनेक गुणों—उसकी अनुपम विशेषताओं पर आपने ध्यान दिया है या नहीं? सम्भवतः नहीं ही दिया होगा। एक दिन मैं कहीं चला जा रहा था कि सहसा मुझे ऐसा लगा, जैसे मैंने कोई अद्भुत सत्य पा लिया। मैं समझता हूँ, अब तक संसार में जितने महान् वैज्ञानिक आविष्कारक उत्पन्न हुए हैं उनमें साइकिल के आविष्कार का स्थान सर्वोच्च तो नहीं अत्यन्त महत्त्व का अवश्य है। मैं उसकी कुछ विशेषताओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँ।

यह अर्थ-युग है, इसलिए पहले आर्थिक विशेषता ही देखिए। हाथी रखिए, चारा जुटाते-जुटाते परेशान हो जाइएगा। इतना खानेवाला दूसरा कोई जानवर नहीं। पहले तो आसपास के पेड़ों के पत्ते-डालियाँ साफ़, ऊपर से पांच से दस सेर तक प्रतिदिन चावल। जरा सोचिए, पचीस से

पचास आदमियों का राशन एक हाथी खा जाएगा ! आये दिन चावल की कमी से लोग भूखों मरें और दर्जनों आदमियों के राशन का चावल एक हाथी के उदर में चला जाए। उस पर भी सवारी करें तीन-चार आदमी, वह भी छठे-छमाहे ! बाज आये ऐसी सवारी से ! घोड़ा ? उसकी भी लगभग वही अवस्था। ठीक से खिलाया जाए तो रोज़ दो-तीन रुपये की घास और इसके बाद दो-चार सेर दाना। न खिलाइए तो हाथी भी मर जाए, घोड़ा भी चीं बोल दे। मोटर ? पेट्रोल की तबाही का क्या कहना और वह भी आज की तंगी के समय में। बहुतों की मोटर गराज में पड़ी-पड़ी बर्बाद हो गई और काम के लायक पेट्रोल नहीं मिला। हवाईजहाज पर बहुतों को बहुत गर्व है। सभ्यता के इतिहास में, सुनते हैं, उसका अपना स्थान है। पर दैत्य के पेट की ज्वाला के समान उसके इंजिन में जो अपरिमित पेट्रोल की खपत है उससे तो साहस टूट जाए। रेल तो जैसे सारे संसार के कोयले को स्वाहा करने के लिए ही उत्पन्न हुई। किस-किसको गिनाऊँ ? संक्षेप में यही कह दूँ कि संसार में अब तक कोई ऐसी सवारी नहीं निकली जो बिना खाद्य के चल सके; वह खाद्य, पेड़ की डाल, पत्ती, घास, चावल, कोयला या पेट्रोल, जो भी हो। पर साइकिल ही एक, एकमात्र ऐसी सवारी है जिसमें न तो ज़मीन की हरियाली को खत्म करने की जरूरत है, न पेड़ों की डाल-पत्तियों को; न दर्जनों आदमियों के राशन के चावल का खर्च है, न सैकड़ों गैलन पेट्रोल का, और न टनों कोयले का। जिसके खिलाने-पिलाने, पालने-पोसने, रखने-चलाने में एक कौड़ी का खर्च नहीं हो ऐसी साइकिल के अलावा और किसी सवारी का नाम आप जानते हों तो बताएँ ! क्या उसकी एक यही खूबी उसकी अद्वितीयता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नहीं है ? विज्ञान के इतिहास में साइकिल का आविष्कार एक आश्चर्यजनक घटना है।

फिर देखिये। हाथी-जैसे विशालकाय पशु के रहने के लिए कितने स्थान की आवश्यकता है। जितनी लम्बी-चौड़ी जगह, उतना ही ऊँचा

मकान। और, उसमें रहता है केवल एक जानवर! घोड़े के लिए अस्तबल की वैसी ही ज़रूरत। यदि घोड़े के साथ फिटन, ताँगा टमटम रहा तो और मज़ा। मोटर के लिए गराज; मकान का एक हिस्सा यों ही बेकार बना रहता है। हवाईजहाज़ के लिए तो पूछिए ही मत। हज़ारा बीघे ज़मीन, जो पैदावार के काम में आ सकती थी, परती पड़ जाती है। सारांश यह कि सवारियों के रहने या रखने में कितना तूल-तबील, कितनी झंझट और कितनी बर्बादी है; पर साइकिल के लिए न तो हाथीसार चाहिए, न अस्तबल, न गराज, न हज़ारों बीघे का मैदान। घर के किसी एक कोने में डाल दीजिए; निश्चित पड़ी रहेगी।

एक हाथी किसी तरफ से जाए, शोर मच जायगा—'हाथी जा रहा है, हाथी जा रहा है।' घोड़े की टाप तो अपनी सूचना आप देती है! मोटर की हड़हड़-खटखट, भों-भों तो जैसे शान्ति भंग करने का ठेका लिये हुए हो। सारे शहर को जगा देने के लिए ही हवाईजहाज़ पर्याप्त है। पर साइकिल बगल से निकल जाए, आपको पता नहीं। आवाज़ भी हो तो टुन-टुन-टुन-टुन; कितना मधुर संगीत! न शोर-गुल, न हल्ला-गुल्ला!

कीमत की बात लीजिये। हाथी में हज़ारों-हज़ार—आजकल की तो चर्चा ही न कीजिये। घोड़े में सैकड़ों का वारा-न्यारा। मोटर हज़ारों क्या लाखों में एक की शक्ति की पहुँच के भीतर। हवाईजहाज़ इने-गिने व्यक्तियों को ही उपलब्ध है, और साइकिल? अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, सबको सुलभ; जज-सदरआला, डिप्टी-मुन्सिफ, प्रोफेसर-मास्टर, धोबी-हज्जाम, कुली-कबाड़ी, नौकर-अरदली, सब पर सम दृष्टि रखनेवाली। सच पूछिये तो भारतवर्ष में साम्यवाद का रूप ठीक-ठीक दो ही चीजों में देखने को मिलता है, एक साइकिल में और दूसरा शराबखाने में, जहाँ ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भेद नाम को भी नहीं है। साइकिल से तो 'सुरसरि सम सब कर हित होई।'

भारतीय प्रगति के समान अत्यन्त मन्द गति से चलने वाली बैलगाड़ी

की बिसात ही क्या? हाथी की मंथर चाल तो साहित्य में अजर-अमर है। ऊँट की ऊबड़खाबड़, बेतरतीब चाल मनोविनोद की ही वस्तु है। घोड़ा तेज़ दौड़ सकता है, पर साइकिल उससे ज्यादा पीछे नहीं रहेगी। मोटर की तरह घण्टे में तीस-चालीस मील की दौड़ वह भले ही न लगाए पर दस-बारह में तो कोई सन्देह नहीं। और ये दस-बारह मील ही कहाँ के कम होते हैं!

हाथी या बैलगाड़ी, ताँगा या मोटर के लिए कितनी चौड़ी सड़क की ज़रूरत पड़ती है। तंग सड़क पर यदि आमने-सामने से दो की मुठभेड़ हो गई तो बस हुआ! देहात की पतली सड़कों पर जहाँ एक ही बैलगाड़ी के लिए मुश्किल से जगह रहती है, कभी संयोगवश आमने-सामने दो बैलगाड़ियों के आ जाने से जो विचित्र, दृश्य उपस्थित हो जाता है, वह दर्शनीय होता है। दोनों गाड़ीवान एक-दूसरे को ललकारते, फटकारते, दोषी ठहराते, बगल करने को बक-झक करते कितना समय वर्बाद करते हैं, और कभी-कभी तो लाठी से ही फैसला हुआ करता है। रेल की राह के लिए लाखों वर्गमील फँसा हुआ है, और वह भी इतनी पराधीन कि उससे ज़रा भी इधर-उधर नहीं चल सकती। पर साइकिल बेचारी में यह कोई परेशानी नहीं। एक बित्ते की मेंड़ भी उसके लिए पर्याप्त है। जितनी दूर में एक ताँगा या मोटर चलेगी, उतनी में चार साइकिलें अलग-अलग चल सकती हैं। स्थान की इतनी बचत है!

ऐक्सिडेण्ट की दृष्टि से सबसे निरापद कोई सवारी है तो साइकिल। घोड़े से गिरे तो अंग-प्रत्यंग चूर-चूर। हाथी से गिरने पर कमर टूट जाय, यदि मतवाला होकर भागा तो जान गई। मोटर में सदा जान के लाले हैं! हवाईजहाज़ के ऐक्सिडेण्ट से बचने वाले विरले ही भाग्यवान सुने जाते हैं। रेलगाड़ी में दो-चार की बात ही क्या, सैकड़ों-हज़ारों की एक बार सफाई होती है। साइकिल-ऐक्सिडेण्ट से यदि कोई अंग ज़रा छिल गया तो बहुत हुआ। साइकिल से गिरकर किसी की मृत्यु होते आपने नहीं सुनी होगी, यह निश्चित है। यदि सुना हो तो समझ रखिये, वह व्यक्ति

साइकिल से नहीं, किसी दूसरी दानवी सवारी की चपेट में आकर मरा होगा। साइकिल जैसी निरीह, भद्र सवारी से ऐसे दुष्कर्म की आशा ही नहीं की जा सकती।

रेल का इंजिन खराब हो गया तो घंटों लेट, हजारों व्यक्ति तबाह। बैलगाड़ी का धुरा टूट गया, बैल गिर पड़ा तो लोथ हो गए। रास्ते में मोटर बिगड़ गई तो चलिये कोई दूसरी सवारी ढूँढ़िए। घोड़ा यदि अड़ गया तो घंटों 'बाबू, दादा, राजा' कहकर पुचकारते रहिये, आरजू-मिन्नत करते रहिये। हवाईजहाज़ बिगड़ा तो जान से ही हाथ धोइए। पर यदि साइकिल खराब हुई तो धीरे से उतर जाइए, हैंडिल पकड़ लीजिए। वह सती-साध्वी स्त्री की तरह वंशागत भाव से आपका अनुसरण करती चली चलेगी। उसके कारण न तो आपकी बुद्धि को हैरान होने की आवश्यकता, न आरजू-मिन्नत करने की जरूरत, न जान जाने की सम्भावना।

साइकिल की एक जबर्दस्त खूबी का परिचय मिलता है रेलवे क्रॉसिंग पर, जब गाड़ी के आने की प्रतीक्षा में फाटक बन्द कर दिये जाते हैं। हाथी, घोड़े, मोटर, फिटन, ताँगा, बैलगाड़ी, सबका ताँता लगा रहता है। सभी एकटक, प्रतीक्षा की आकुलता के साथ फाटक पर नजर गड़ाये रहते हैं, फाटक कब खुले; कब खुले, जैसे किसी देवता के प्रकट होने की राह देख रहे हों। उनका एक-एक क्षण विरह की घड़ी-सा दुर्वह बना खड़ा रहता है। और, साइकिल लिये कोई जाता है। मोटर-फिटन में बैठे हुए, निराशा और बेबसी से फाटक पर नजर गड़ाये बाबुओं को एक विजय की मुस्कान से देखता हुआ, उनकी विवशता का आनन्द लेता हुआ, वह दोनों हाथों मे अपनी सवारी उठाकर फाटक के पार रखता और सर्र-से चल पड़ता है। वे बाबू उसकी ओर ईर्ष्या-भरी दृष्टि से देखकर रह जाते हैं। खाई-खन्दक, बाँध-नाला, ऊँचा-नीचा, कैसा भी बीहड़ पथ हो, पर साइकिल वाले के लिए समतल ही है।

संसार की सभी वस्तुओं के अन्तिम और अनिवार्य परिणाम की दृष्टि से भी विचार कर लीजिए। हाथी मरे तो छाती फट जाये। घोड़े-बैल की

मृत्यु कमर तोड़ दे। मोटर की बर्बादी में हज़ारों का सवाल है। रेल और हवाईजहाज़ के नुकसान की तो चर्चा ही व्यर्थ है। पर साइकिल का सर्वनाश थोड़ी देर के अफ्सोस तक ही सीमित। जिसके रहने पर हर तरह की सुविधा, सब प्रकार के आराम, और जाने पर कोई गम नहीं, ऐसे दो विरोधी गुण साइकिल में ही देखे जा सकते हैं। संसार में जिस वस्तु से हमारा जितना हित-साधन होता है उसके नहीं रहने पर उतना ही कष्ट होता है; पर साइकिल इस व्यापक सांसारिक नियम का जैसे अद्वितीय अपवाद है। ऐसी है यह दो पहिये की हल्की-फुल्की सवारी ! निराली, अनुपम, अद्वितीय !

वीरकर

●

गजानन माधव 'मुक्तिबोध'

शहर से जरा दूर, शाम के वक़्त मैं और मेरे मित्र श्री वीरकर गोपाल-मन्दिर के इस छोटे-से चबूतरे पर बैठे हुए हैं। पता नहीं क्यों, किन्हीं-किन्हीं मन्दिरों का वातावरण मुझे बहुत अच्छा लगता है। साफ़ कह दूँ कि मेरा ईश्वर-वीश्वर में कोई विश्वास नहीं। फिर भी किन्हीं-किन्हीं वातावरणों में हमेशा के लिए लीन हो जाने का जी करता है। छोटा-सा मन्दिर है। चारों ओर कुन्द, पारिजात, टगर, कन्हेर और चम्पा के पेड़ लगे हुए हैं. जो जंगली मालूम होते हैं, क्योंकि कोई उन वृक्षों की देखभाल नहीं करता। एक निर्जन पुण्य-पावन वातावरण है, जिसमें शाम के रंग भीग गये हैं। अभी अकेलापन है। शायद छह-सात ब - लोगों का आगमन शुरू हो।

"शाम दुपहर को 'खो' देकर रात में लीन हो जाती है और रात भी सुबह में परिणत हो जाती है। यह चक्र चला आया है, चला चलता है। इसको प्रगति नहीं कहते।"

वीरकर ने इतना कहकर मेरी तरफ़ इस तरह देखा मानो वह कोई अत्यन्त गम्भीर सत्य कह रहा हो। उसकी बात में कोई तन्त (तत्त्व) हो या न हो, मुझे वह आदमी पसन्द है, इसलिए उसकी बात मुझे एकदम निस्सार

मालूम नहीं हो सकती। मैंने श्रद्धालु छायावादी मनोवृत्ति से उसके वक्तव्य में अर्थ देखने की, खोजने की, टोह लेने की कोशिश की। लेकिन प्रयत्न करने पर भी कुछ हाथ न आया। उसके वक्तव्य का अभिधार्थ तो स्पष्ट ही शून्यत्व है, यह मैंने महसूस किया और भीतर-ही-भीतर इस बात की कोशिश करने लगा कि मैं उसे मूर्ख न समझूँ।

वीरकर कहता गया— "उसको प्रगति नहीं कहते। मेरे ख़याल से वह गति भी नहीं है।"

मैंने उकताकर एक बगासी दी और उससे स्पष्टीकरण माँगा।

उसने बहुत धीरे-धीरे कहना शुरू किया, मानो उसकी साँस उखड़ गई हो और बड़े प्रयास से शब्दों को जोड़कर वाक्य बना रहा हो। "आपने अभी कहा था कि हमारे काव्य, साहित्य या कला में लाइफ़ का कॉण्टेण्ट (जीवन के तत्त्व) बहुत कम हैं।···मेरा विचार है कि आज की ख़ास दिक़्क़त यह नहीं है कि साहित्य में तत्त्व कम है, वरन् यह है कि जीवन में बहुत अधिक है। वह जीवन जो जिया या भोगा जाता है, उसमें इतने अधिक तत्त्व हैं—सुबह से लेकर शाम तक मन पर उन तत्त्वों का इतना अधिक संवेदनात्मक प्रहार होता रहता है कि उत्तेजित हो-होकर मस्तिष्क की रगें, मस्तिष्क के तन्तु, अपने आराम के लिए उन तत्त्वों को टाल देते हैं, भूल जाने की कोशिश करते हैं, और मन जान-बूझकर अपने में शून्य का निर्माण कर लेता है।"

मुझे हतसंज्ञ हो जाना चाहिए था। किन्तु मैं मात्र हतबुद्धि होकर उसकी तरफ़ देखने लगा। मैंने उसी की बात को निखारकर रखना चाहा। मैंने कहा, "शायद, आप यह कहना चाहते हैं कि आज के सचेत संवेदनशील कलाकार की समस्या यह नहीं है, वरन् यह कि वह बहुत अधिक है और वह सुबह से लेकर शाम तक लगातार इकट्ठा होता रहता है, कि उस कॉण्टेण्ट का प्रापर शिफ़्टिंग (उन तत्त्वों का यथायोग्य संकलन-संचयन) नहीं हो पाता। क्या आप यह कहना चाहते हैं?"

"देयर यू आर" (हाँ एकदम सही)। वीरकर ने उत्साहित होकर

जवाब दिया और आगे जोड़ा, "लेखक के मन में लगातार एकत्रित होते जानेवाले इन तत्त्वों का इतना बोझ होता है और ईश्वर ने या समय ने उसे इतना कम अवकाश दिया है कि अनेक कलात्मक नमूनों में उनकी पुनर्रचना हो नहीं पाती। इसके फलस्वरूप, वे तत्व मर नहीं जाते, अण्डरग्राउण्ड चले जाते हैं। अथवा यों कह लीजिए कि लेखक अपने हृदय-मन को बधिर करने के लिए अपने मन में किसी शून्यत्व का निर्माण कर लेता है और वह स्वयं भी उसमें खो जाता है। मैं यह समझता हूँ कि लेखक को आज इस स्थिति से उबरने की आवश्यकता है।"

वीरकर ने यह आघात शायद मुझ पर ही किया था, अथवा उसकी व्यक्तिशः अपनी कोई विशेष पार्श्व-भूमि हो सकती है। मैं यह जानना चाहने लगा कि आखिर उसके मन में क्या है।

वीरकर एक मझोले क़द का आदमी है। हाई स्कूल का मामूली टीचर है। साधारण परिस्थिति है। पढ़ने-लिखने का शौक है। काफ़ी घुमक्कड़ है। उसने लम्बी-लम्बी यात्राएँ भी की हैं। आदमी दिलचस्प है। सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मेरा दोस्त है।

मुझे लगा कि उसकी बात में कुछ सार है। इसीलिए बात बढ़ाते हुए मैंने उससे कहा, "लेकिन इन जीवन-तत्त्वों की अनेक नमूनों में पुनर्रचना आख़िर वह क्यों नहीं कर पाता? वह उनकी उपेक्षा क्यों करता है? मेरे खयाल से वह अपने भोक्ता मन के वस्तु-तत्त्वों से भाग रहा है अथवा उसमें इतनी प्रतिभा नहीं है कि वह सबको उचित रूप से प्रस्तुत कर सके!!"

वीरकर हँसा और मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, "इसका जवाब आप खुद दे सकते हैं। लेकिन यह निस्सन्देह है कि अलग-अलग लेखक अलग-अलग जवाब देंगे। बहुत-से लेखकों में प्रतिभा का अभाव, किसी में उत्साह का अभाव, पता नहीं क्या-क्या!"

वीरकर ने मुझे एक झटके में अन्तर्मुख कर दिया और मैं यह सोचने लगा कि आखिर इस समस्या का रूप-रंग क्या है, और उसका मुझसे जो

सम्बन्ध है उसका स्वरूप क्या है ?

मन्दिर के चबूतरे पर शाम को नीले धुंधलके में आसपास के वृक्षों के फूलों और पत्तियों की सुगन्ध आ रही थी। अभी रात के आठ भी नहीं बजे थे। न केवल वृद्ध और अधेड़ स्त्रियाँ, वरन् लड़कियाँ और नवयुवक मन्दिर में आते, दूर ही से गर्भान्तराल में स्थित देवता पर फूल फेंकते और हाथ जोड़कर न मालूम क्या-क्या बुदबुदाते हुए क्षण-भर प्रार्थना-मग्न हो जाते। शहर की गड़बड़ से दूर यह मन्दिर रात के साढ़े नौ बजे तक इसी तरह व्यस्त रहता। साधारणतः मन्दिर जानेवाली इन नव-युवतियों और नवयुवकों की इस प्रार्थनोन्मुख भावना पर मैं हँसा करता। लेकिन पता नहीं क्यों, आज मैंने व्यंग्य नहीं कसा। मैं चुप रहा।

इन युवक-युवतियों को देख न जाने क्यों मैंने भरे हुए गले से वीरकर से सिर्फ इतना ही कहा, "परिस्थिति से सामंजस्य के लिए यह जो आजीवन संघर्ष है उसमें कितनी मनोवैज्ञानिक शक्ति खर्च हो जाती है। पचीस साल तक के यौवन में जब व्यक्ति की मानसिक शक्ति निर्माणशील प्रयत्नों में लगनी चाहिए वह कैसे बेहूदा युद्ध मे व्यय हो जाती है।"

वीरकर खुद अपने में डूबा-डूबा-सा लग रहा था। उसने कहा, "लेखक के स्वभाव में बहुत-सा आदर्शवाद रहता है, या कहिए आदर्शवादी ज़िद रहती है। हम यह करेंगे, वह क़तई नहीं करेंगे। किन्तु समाज या समय लेखक को या अन्य को ऐसा विकल्प देता कब है ? उन्नति की तिमंज़िली इमारत में घुसकर ऊपर तक जाने के लिए सिर्फ़ एक ही ज़ीना है, वह भी चक्करदार। उस पर बहुत भीड़ है, बड़ी ठेलमठेल है। लेखक कहता है, मैं उसके साथ खड़ा रहूँगा, उसके साथ नहीं। लेकिन परिस्थिति ने उसको यह विकल्प दिया ही कहाँ है ? वह परिस्थिति से जबरदस्ती यह विकल्प लेना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि ठेलमठेल करती हुई भीड़ के नीचे वह कुचला जाता है या इस इमारत के बाहर उसको एकदम खिसक जाना पड़ता है, या वह ठेल दिया जाता है और साधारणतः ऐसे लोग अपनी वर्ग-श्रेणी से गिरे हुए होते हैं। वर्ग-श्रेणी।

गिरे हुए की मनःस्थिति हमेशा खराब रहती है···"

मैंने कहा, "हाँ, अपने वर्ग की आदतें, संस्कार, भावनाएँ कहाँ जाएँगी ?"

उसने कहा, "फिर भी उन्हें अपनी वर्ग-श्रेणी से गिरे हुए ही रहना पड़ता है। चूँकि वह उनकी सीढ़ी से लुढ़ककर गिरे हुए हैं इसलिए वह वर्ग-श्रेणी उनका तिरस्कार करती है। मनुष्य पर न्याय-निर्णय देने का उसका मानदण्ड, व्यवहारतः उसी वर्ग का होता है। मेरी हालत देखो न ! मेरी शेरवानी फटी हुई है, इसलिए वे मुझ पर दया करते हैं, कि मैं अयोग्य निकला, कि मैं अनुत्तरदायी हूँ ! अनुत्तरदायी कौन, मैं या वह ? मेरे नाते-रिश्तेदार सब उसी श्रेणी के हैं। इससे कृपा, तिरस्कार, आलोचना का विषय तो बनना ही पड़ता है।"

वीरकर ने दुःख-भरी हँसी हँसते हुए कहा—"अगर मैं उन्नति के उस ज़ीने पर चढ़ने के लिए ठेलमठेल करने लगूँ तो शायद मैं भी सफल हो सकता हूँ। लेकिन ऐसी सफलता किस काम की जिसे प्राप्त करने के लिए आदमी को आत्म-गौरव खोना पड़े, चतुरता के नाम पर बदमाशी करनी पड़े, शालीनता के नाम पर बिलकुल एकदम सफ़ेद झूठी खुशामदी बातें करनी पड़ें। जिन व्यक्तियों को आप क्षण-भर टॉलरेट (सहन) नहीं कर सकते, उनके दरबार का सदस्य बनना पड़े ! हाँ, जो लोग यह सब कर लेते हैं, वे अपनी यशोपताकाएँ फहराते हुए घर में लौटते हैं और कितने आत्म-विश्वास से बात करते हैं ! मानो उन्हीं का राज्य है। बहुरूपिया शायद पुराना हो गया है, लेकिन उसकी कला इन दिनों अत्यन्त परिष्कृत होकर भभक उठी है।"

वीरकर कहता गया, "अब बताइए, हम-सरीखों पर क्या-क्या नहीं गुज़रती ! जिस वर्ग से हम गिरे हैं, वह वर्ग हमें फटे कपड़ों में भी सन्तुष्ट नहीं रहने देता। वह हमारे पीछे पड़ा रहता है। अब बताइए, उसे कैसे झकझोरें ! उसके मानदण्डों की पूर्ति के लिए (गन्दी गाली देकर वीरकर ने कहा था, मैं यहाँ भद्र गाली का उपयोग कर रहा हूँ) हम अपनी 'ऐसी-तैसी' कराते फिरें ! अजी, क्या बताऊँ, हमने जब चित्रकला-सोसाइटी

खोली तो हमें अजीबो-ग़रीब परिस्थिति का सामना करना पड़ा। ख़ैर !"

मैंने कहा, "बताइए, बताइए !"

वीरकर ने जवाब दिया, "जिन लड़कियों को मामूली पोर्ट्रेट पेण्टिंग का अ-ब-स नहीं आता,...ख़ैर, छोड़िए वह क़िस्सा ! जब हम उस सोसाइटी का वार्षिक सम्मेलन करने लगे तो मैं एक मिनिस्टर को बुलवा लाया। साहब, हमारे लोग कितने खुश ! मेरे पिताजी को लगा, मेरा लड़का अब ठीक रास्ते पर जा रहा है। अजी, आपसे क्या कहूँ, मिनिस्टर के बँगले पर मेरे एक परिचित बैठे हुए थे। वह एक नेता का लड़का था। मिनिस्टर की पीठ फिरते ही फुस से कहता क्या है, 'हमारे पिताजी को प्लेटफॉर्म दिलवाइए न ?' जी हाँ, जनता में उनको प्लेटफ़ॉर्म नहीं मिल पाता; इसीलिए वे आजकल भूदान-आन्दोलन में काम कर रहे हैं। मैंने अपनी समिति के वार्षिकोत्सव की अन्तिम सभा का उन्हें अध्यक्ष बना दिया...ओहो ! मेरे लोगों को क्या खुशी हुई ! अब तक मैं निकम्मा ही नहीं, अयोग्य था ! लेकिन मेरी पहुँच उन तक देख, मेरी इज़्ज़त कितनी बढ़ी ! यह अब बिलकुल सम्भव है कि उनके ज़रिये मेरे बहुत-से काम निकल जायें। लेकिन वे लोग—कितने बदमाश, कितने गधे !

मैंने वीरकर से कहा, "तुम अपने मुद्दे से भटक गये हो।"

उसने कहा, "बिलकुल नहीं...हमारा लेखक अपनी भौतिक, सांसारिक उन्नति के लिए दन्द-फन्द करता रहे या स्वयं अपनी दिशा में प्रगति के लिए वह कोशिश करे ! अगर उसने पहली बात छोड़कर दूसरी बात की, तो उसके पीछे कुत्ते लग जाते हैं—भूख के, दयनीयता के, अपमान के, अभाव के, रोग के, यहाँ तक कि मृत्यु के। यदि दूसरी बात छोड़ पहली बात की, तो उसका मूल मनःपिण्ड ही नष्ट हो गया समझिए। यदि उसने दोनों बातें एक साथ करनी चाहीं तो वह इन दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं कर सकता, उसकी स्थिति न केवल उपहासास्पद हो जायेगी वरन् वह पहले दरजे का बदमाश भी बन जायेगा। ऐसे कई उदाहरण मैं अभी-के-अभी दे सकता हूँ। कहो तो नाम लूँ। बोलो, लूँ, ?"

मैंने वीरकर से कहा, "मेरा तो सिर दुख रहा है।"

तड़ाक से जवाब मिला, "तथ्यों से क्यों जी चुराते हो ? उस वर्ग के आलोचक तुम-जैसों को कहते हैं कि तुम 'ऑब्सक्योर' हो। जो लिखते हो उसका ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। या फलाँ हो, फलाँ हो। असल में तुम्हारी दुनिया ही अलग है। तुम्हारे डिजिट्स (गणित) ही अलग हैं। तुम्हारा वातावरण ही अलग है। तुम्हारी प्रेरणा ही भिन्न है। वह भला उनके लिए अनुकूल क्यों होगी ? वह उन्हें समझ में कैसे आ सकती है ? क्यों, वह उन्हें सुन्दर क्यों लगेगी ?"

मैंने वीरकर को डाँटकर कहा, "लेकिन तुम्हारी इस बात से इस तथ्य का क्या सम्बन्ध कि हमारी श्रेणी के लेखक के पास साहित्य से सम्बन्धित संवेदनात्मक जीवन-तत्त्व बहुत अधिक हैं, किन्तु वह उन्हें अण्डर-ग्राउण्ड कर देता है। और वह कृत्रिम रूप से मन में एक शून्य बना लेता है।"

वीरकर ने कहा, "चलो उठो, तुम बेवकूफ़ हो···घर चलो, देर हो गयी···अजी, वह बहती हुई नई-नई लहरों में डूबा रहता है, पानी आँखों में समा जाता है, वह आँखें मूँदकर तैरता है! लेकिन पानी के बाहर सिर निकालकर जल का नील-विस्तार-दृश्य नहीं देख पाता! इन तत्त्वों की अनेक नमूनों में पुनर्रचना करने के लिए, बहुत गहरी चिन्तन-शक्ति चाहिए। उसे इसकी फुरसत ही नहीं है। और फ़ुरसत यदि है भी तो बहुत थोड़ी-सी।"

मैं चुप रहा। मुझे लगा कि वह काफ़ी हद तक सही कह रहा था। अब मुझे ही देखिए न! दिन-भर मैं जिस दुनिया में प्रवेश करता हूँ उसे यदि देखा जाये तो वह स्वप्न-कथा का ही एक रूप है! वह एक विशाल उपन्यास है। वह एक चित्र-कथा है। उसमें कितने ही मनोहर और सुकुमार, भयंकर तथा विषादपूर्ण दृश्य हैं। अगर मैं अपनी तात्कालिक जीवन-गाथा के प्रसंग उठाकर लिखूँ, तो भी बहुत-कुछ हो सकता है। लेकिन क्या मैं ऐसा करता हूँ ? नहीं। वास्तविक जीवन जीते समय,

संवेदनात्मक अनुभव करना और साथ ही ठीक उसी अनुभव के कल्पना-चित्र प्रक्षेपित करना—ये दोनों कार्य एकदम एक-साथ नहीं हो सकते। उसके लिए मुझे घर जाकर अपने में विलीन होना पड़ेगा। इसीलिए मैंने थियरी (सिद्धान्त) बनाकर रखी है, चाहे वह किसी को पसन्द हो या न हो, कि इन संवेदनात्मक तथ्यों या सत्यों का अण्डरग्राउण्ड (भूमिगत) हो जाना बुरा नहीं है।

मैंने यही बात अपने प्यारे मित्र वीरकर को बताई। उसका विश्लेषण मुझे पसन्द आया, इसलिए मैं उसे यहाँ दे रहा हूँ।

उसने बताया कि अनुभव-संवेदन और अनुभव-प्रक्षेपण दोनों साथ-साथ नहीं चलते, यह एकदम सही है। किन्तु जिस व्यक्ति का मन मूलतः क्रिएटिव (सर्जनशील) और कल्पना-प्रवण है, वह टेबिल पर लिखते वक़्त कल्पना-प्रवण होता है, यह बात नहीं। उसकी सर्जनशील कल्पना-प्रवणता वस्तुतः दिन-भर चली चलती है। सच तो यह है कि वह उसके जीवन का एक धर्म है। जीवन का धर्म होते हुए भी, वह उस धर्म का यथा-योग्य पालन नहीं करता, पालन करने की कोशिश भी नहीं करता। उदाहरण के लिए, उसे किसी विषय पर सम्पादकीय लिखना है। तुम पत्रकार हो। सम्पादकीय लिखते वक़्त एकदम उस व्यक्ति का ध्यान जाता है इस बात पर, कि वह जो कुछ लिखना चाहता है, उसमें कई जगह सत्य की टाँग टूट रही है। उसकी कल्पना में एक इमेज फ़ॉर्म होता है (एक चित्र उभरता है) एक व्यत्ति-भावना का, एक ज़िन्दगी का, अपने जीवन का दृश्य दीखता है कि वह कितनी झुठाई में जी रहा है। वह न केवल एक झूठ निर्माण कर रहा है, करता जा रहा है। उसमें एक डबल पर्सनैलिटी, एक द्वित्व है।" वीरकर ने मुझे चुनौती देते हुए कहा, "क्या तुमने इस डबल पर्सनैलिटी के जीवन-दृश्य प्रस्तुत किये ?" उसने आगे कहा, "क्यों नहीं किये ? तुमने अपने धर्म का पालन क्यों नहीं किया ?"

वीरकर. पता नहीं क्यों, बहुत उत्तेजित हो उठा। वह गड़बड़ा रहा

था, गरज रहा था। उसने मुझ पर जब इस प्रकार आक्रमण किया तो मेरा हतबुद्धि हो जाना स्वाभाविक था। मैं क्रुद्ध हो उठा।

जब उसने मेरी भँवें देखीं और तमतमाया चेहरा देखा, तो वह हँस पड़ा और बोला, "यह मेरे प्रश्न का जवाब नहीं हुआ। 'डबल पर्सनैलिटी' इस शब्द से तुम्हें आपत्ति है, यह ठीक है। तुम्हारी आपत्ति साधार है। तुम अच्छे आदमी हो, इसीलिए मेरे दोस्त हो। आओ, चाय पी लो।"

मैंने कहा, "मुझे चाय-वाय नहीं पीनी। तुम निकम्मे आदमी हो।"

उसने मुझे शान्त करते हुए कहा, "विवशतापूर्वक ही क्यों न सही, तुम्हें डबल पर्सनैलिटी न सही, डबल स्टैण्डर्ड रखना ही पड़ता है! मुझको भी रखना पड़ता है। तुम्हारी बुद्धि एक पण्य-वस्तु है—एक 'कमोडिटी' है। तुम बुद्धि बेचते हो, मैं भी वैसा ही करता हूँ। यह मैं जानता हूँ कि जीवन प्रधान है। जीवन न रहा तो कला कैसी! साहित्य कैसा! लेकिन, सोचो तो, कि जिस अनुभव-संवेदन में तुम लगातार लीन रहते हो, यदि उस संवेदन को तुम प्रकट न करोगे, तुम न बताओगे, तो किसको क्या पड़ी है कि वह बताये! अपने अनुभवों का तुम सिगनिफ़िकेन्स (महत्व) पहचानो। सामाजिक दृष्टि से तुम्हारा स्थान कुछ नहीं, इसलिए तुम अपने को हेठा या छोटा मत समझो। तुम मात्र एक संवेदनशील माध्यम हो। अपने को जाने-अनजाने हेठा या छोटा समझकर इस माध्यम को विकृत मत करो। अपने ही ईमानदार अनुभव-संवेदनों को तथा अपने जीवन के स्थायी भावों को प्रॉपर पर्सपेक्टिव (सही परिप्रेक्ष्य) में पहचानो।"

वीरकर की आवाज़ इतनी घनी-घनी हो रही थी कि मुझे लगा कि वह किसी भावना में बह रहा है। मुझे एकदम न जाने क्या उत्तेजना हुई। मैंने स्नेहपूर्वक उसके कन्धे को ज़ोर से हिला दिया। उसने अन्त में इतना कहा, "इन अनुभव-संवेदनों को सँजोकर रखना, उनसे सम्बन्धित जीवन-प्रसंग और मानव-हृदय समेटकर रखना, उन्हें नोटबुक में टाँक

लेना क्या ज़रूरी नहीं है ? स्वयं को आन्तरिक रूप से सम्पन्न करने का यह भी एक तरीक़ा है—क्या ऐसी बात नहीं है ?"

वीरकर की जिन श्रद्धामय प्रताड़नायुक्त आँखों ने मेरी तरफ़ देखा वे वीरकर की नहीं थीं। मेरी गली में चलता-फिरता साधारण वीरकर उपेक्षणीय व्यक्ति है। यह कोई और है जिसमें मानव-विकास-दृश्य देखने का अभूतपूर्व सामर्थ्य है। यह एक महापुरुष है जो विश्व-स्वप्न देखता है!

मैं अपने में खो गया। हम धीरे-धीरे अलग-अलग चलने लगे। मैं मन में दुहराने लगा---सचमुच साहित्य से सम्बन्धित जीवन-तत्त्व बहुत ही अधिक हैं। लगातार होने वाले विचित्र अनुभव-संवेदनों के एकदम साथ न सही, तो भी क़दम-ब-क़दम किसी-न-किसी तरह, कोई-न-कोई, चाहे भिन्न ही सही, अनुभव-प्रक्षेपण भी चलता रहता है, अपने स्वयं के भीतर के कल्पना-पटल पर। इस तथ्य से कैसे इनकार किया जाये ! यद्यपि इतने स्पष्ट रूप से वीरकर ने यह बात प्रस्तुत नहीं की थी। अपने ही कल्पना-पटल पर इन अनुभव-प्रक्षेपणों के सही-सही कलात्मक चित्र प्रस्तुत करने के लिए, न केवल मार्मिक मनन और उनके संकलन-संचयन की आवश्यकता है, वरन् इसके बहुत-बहुत पहले विश्व-दृष्टि की आवश्यकता है। इस दृष्टि के अभाव में, अपने ही अनुभवों के ठीक-ठीक महत्त्व को हम आँक नहीं पाते, और इसलिए केवल कुछ विशिष्ट अनुभवों या अनुभवाभासों को ही तरजीह देकर अन्य महत्त्वपूर्ण अनुभवों का गला घोंट देते हैं। क्या यह सच नहीं है ? मेरे खयाल से यह एक तथ्य है। इस रुख का नतीजा यह होता है कि बहुत बार हमारा साहित्यिक विकास जिस दिशा में जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हो पाता। हम जो अनुभव, साहित्यिक प्रकटीकरण के लिए, प्रवृत्तिवश चुन लेते हैं, उनकी हमें बाद में आदत पड़ जाती है, उनके चित्रण-अंकन का अभ्यास हो जाने के कारण हम केवल उन्हें ही प्रकट करते रहते हैं। शेष अनुभव, अपनी गहराई, तीव्रता तथा प्रभावशालित्व के बावजूद, मन के अँधेरे में पड़े रहते हैं, भले ही कभी-कभी उनकी गूंज हमारे द्वारा निर्मित साहित्य

में चली आये। इसका कुल मिलाकर परिणाम यह होता है, हम कह नहीं सकते कि हमारे द्वारा निर्मित साहित्य, समाज तो जाने ही दीजिए, हमारे व्यक्तित्व का भी सच्चा प्रतिनिधित्व करता है या नहीं। यदि केवल साहित्य से, कोई हमारे व्यक्तित्व का अनुमान करने बैठे तो वह धोखा खा जायेगा। हमने संस्कारवश या प्रवृत्तिवश, एक ख़ास ढंग का कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ़्लेक्स, साहित्यिक भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति की यान्त्रिक उत्तेजना बना रखी है। यह कहाँ तक उचित है ?

मैं स्वयं अंशतः इसका गुनहगार हूँ, लेकिन मुझे अपने पर विश्वास अथवा विश्वासाभास सिर्फ़ इसलिए है कि बीरकर-जैसे मेरे सहचर हैं, जो मुझसे हर उचित बात, छाती पर चढ़कर, करवा लेंगे। हाँ, यह बात अवश्य है कि जो बात होगी, वह यदि होनी है तो अपने ढंग से ही होगी।

अगर मुल्क में अखबार न हो

नामवर सिंह

जब से गाँव आया खबरें तो बहुत मिलीं, लेकिन अखबार एक भी नहीं। सुना, मुंशीजी अखबार मँगाते हैं। ताव ऐसा कि चल पड़ा। पहुँचकर देखता क्या हूँ कि मुंशीजी चार आँखों से अखबार पी रहे हैं। पूछा, "कोई नयी खबर मुंशीजी ?"

"कुछ नहीं," बिना सोचे-समझे मुंशीजी बोल उठे। मैंने उनका भ्रम निवारण करते हुए कहा, "हफ्तों हो गये मुझे अखबार नहीं मिला है। मेरे लिए सब नया-ही-नया होगा। कह सुनाइए।"

पता नहीं क्यों मुंशीजी का मुंह तो खुला लेकिन बोलने के लिए नहीं, केवल खोलने के लिए। स्वयं चुप रहे। इसी बीच आ गये चौधरी रामदीन। कुछ ठिठके, ठमके, फिर पास आ गये और मचिया पर आसन जमाते हुए बोले, "कोई नयी खबर, लाला ?"

"कुछ नहीं, चौधरी !" वही रेकर्ड फिर बोला। अब मैंने समझा कि ब्रह्मज्ञान की तरह यह अनुभव भी शायद अनिर्वचनीय है। इसीलिए योगिराज मुंशीजी लाचार हैं। यों अखबार पढ़ने पर बहुतों को यही कहते सुना है। शायद यही कहता मैं भी। परन्तु चौधरी सहज ही चुप हो जानेवाले जीव न थे—बड़ी-बड़ी पंचायतें देखी थीं उन्होंने। पूछ बैठे,

"कुछ नहीं है, तब क्यों आप घण्टे-भर से उसमें घूर रहे हैं ?"

"चौधरी, तुम्हारी समझ में कुछ न आयेगा।" कहने को तो कह गये मुंशीजी, परन्तु मेरी ओर देखकर न जाने क्यों कुछ झेंप-से गये। चौधरी को अपनी समझ पर इतना विश्वास था कि उन्होंने बीचवाला पन्ना लेकर पढ़ना शुरू कर दिया। गनीमत थी कि अक्षर-ब्रह्म का निरक्षर जीव से पाला नहीं पड़ा। बड़ी मुश्किल से मोटे-मोटे अक्षरों को पढ़ते सुनायी पड़े—'पा शिं ग शो सि ग रे ट', 'लि प ट न की चा'। अपनी ही बोली पर चौधरी चौंक उठे, बोले, "यह क्या है मुंशीजी ? अखबार में यही सब रहता है ?"

"नहीं चौधरी, यह तो केवल विज्ञापन है। खबरें भी हैं। देखिये हमारे प्रधानमन्त्री का भाषण बड़े जोर-शोर से निकला है।" मैंने सहारा दिया। परन्तु चौधरी ने कागज रखते हुए कहा, "तो यह भी कोई खबर है ? यह भी तो विज्ञापन ही है। अरे, वह चाय-सिगरेट का है और यह आदमी या बड़े आदमी का !" मैं तो सन्न रह गया। यह है इस सनके हिन्दुस्तानी का मन ! "आखिर कैसी खबर चाहते हैं, चौधरी ? कहिए, कुछ बाँचकर सुनाऊँ ?"—सँभलते-सँभलते मैंने पूछा। परन्तु चौधरी तो जैसे भरे बैठे थे; बोले, "रहने दीजिए। कुछ हम गरीबों के लिए हो तो सुनाइए, नहीं चलूं। बड़ा काम है।"

मैं कागज में आँख गड़ाकर कुछ और-का-और नहीं पढ़ना चाहता था। इसलिए छेड़ने के लिए बोला, "इसमें बड़ी-बड़ी खबरें छपती हैं···" प्रत्यंचाछिन्न धनुष की तरह सहसा सीधे होते हुए चौधरी ने, पता नहीं, तम्बाकू खाया या (मेरी बुद्धि पर) तरस ! कहते चले—"आपने ठीक ही कहा था कि इसमें कुछ नहीं है। भाषणों का यह नशीला विज्ञापन भी केवल चाय-सिगरेटवाले बड़े लोगों के लिए है !···"

तत्त्वान्वेषी मुंशीजी आँखों से खबरों का पीछा करते रहे जैसे कुछ न हुआ हो, और मैं चला अपने घर की ओर। आकर देखता हूँ कि एक नये-नये स्थापित 'पत्र' के केवल नमस्कार-परिचित सम्पादक मित्र ने कृपा-

पूर्वक पत्र भेजा है कि कोई रचना भेजो। पत्र के विशेषण में ऊपर लिखा है 'नवीन संस्कृति का अग्रदूत'। व्यवस्थापक अथवा मालिक का नाम उस पर नहीं है—शायद वह सम्पादक के हृदय पर लिखा है अथवा बुद्धि पर जिसे सम्पादक की पत्नी भी नहीं देख पाती। नाम भी अखबार का कितना भड़कीला है—'जन' से ही शुरू है! आश्चर्य होता है इस रंग बदलने वाले सर्प को देखकर! एक जमाना था जब सिनेमा की अभिनेत्रियों की फेहरिस्त देखी जाती थी अखबारों के छायावादी नाम के लिए। आज बिना जनता के काम ही नहीं चलता। जनमत, जनशक्ति, जनता, जनयुग! देखें, 'जन' संज्ञा से कितने विशेषण बनते हैं! यही नहीं, नगरों को घेर चुकने के बाद अब नगर के संसार भी 'ग्रामसंसार' बन रहे हैं! रूप तो इतना बदला कि 'सम्पादक के नाम पत्र' का नया खम्भा खड़ा हो गया!

चौधरी कहते थे कि अखबार भी नशा है—नशा का विज्ञापन है, परन्तु इतना ही भूल गये थे कि विज्ञापन की अन्य नोटिसें मुफ्त बँटती हैं, जबकि यह नोटिस दो आने-छः पैसे में बिकती है। इसमें आम के ही नहीं, गुठली के भी दाम लिये जाते हैं। क्या होगा इन्हें पढ़कर! कुछ दिन हुए एक कविमित्र ने कुछ साथियों के बीच जब यह कहा कि मैं अखबार नहीं पढ़ता तो लोगों ने अचम्भा ही नहीं दिखाया, हँसी भी उड़ायी। मुझे भी आश्चर्य हुआ, परन्तु इस बात पर कि अब भी वे इतने दुबले-पतले क्यों हैं जबकि उन्हें शहर का कोई अन्देशा ही नहीं। हमारे चौधरी अच्छा-खासा भोजन न पाने पर भी शायद इसीलिए भले-चंगे हैं कि वे अखबार का सेवन नहीं करते। नशा है न!

सबते भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति।

—काश, मैं भी इन काले अक्षरों को पीने से बच पाता!

राजनीतिज्ञों का कहना है कि अखबार जनतंत्र के संचालक साधनों में से एक है क्योंकि यह जनमत का वाहक है, परन्तु पता नहीं यहाँ कुत्ता दुम को हिलाता है या दुम कुत्ते को हिलाती है। सम्भवतः अखबार विषय-

प्रधान (ऑब्जेक्टिव) उतना नहीं है जितना व्यक्तिप्रधान (सब्जेक्टिव), और आदमी के पर्यायवाची शब्दों में इधर 'रुपया' का भी समावेश हो गया है। यों 'अप-टु-डेट' कोशकार इसका उल्लेख न करें तो कोई क्या करे। इसलिए आजकल अखबार और रुपया एक ही ठप्पे से छपते हैं। फिर जनमत को बनाना-बिगाड़ना तो बायें हाथ का खेल है। इतना प्रभावग्राही है यह कागज़ी यंत्र कि हल्की-से-हल्की हवा बहने पर चट घूम जाता है। यही क्यों ? 'राणा की पुतली फिरी नहीं, तब तक चेतक मुड़ जाता है !'

अखबार इस सभ्यता का सबसे बड़ा फूल है जिसकी सुगन्ध बिना हवा के संसार-भर में फैल रही है। यों तो यह 'बारहमासा' है परन्तु इसके फलने की विशेष ऋतु है युद्ध। 'कवि-प्रसिद्धियों' में अलग-अलग फूलों के खिलने के लिए अलग-अलग उपाय दिये गये हैं। सुना है कि पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' का जो नया संस्करण निकाला है उसमें इस कागज़ी फूल के खिलने के लिए यह कवि-प्रसिद्धि बनायी है कि यह मजलूमों के खून से सींचे जाने पर अथवा कुल्ला करने पर खिलता है। अब खोजी लोग जानें कि द्विवेदीजी को यह बात किस 'ताम्रपट्ट' या 'रजतपट्ट' से मालूम हुई है ! सो धनी लोग तो पुराने समय से ही फूलों के प्रेमी कहे गये हैं। एक ओर तो वे कितने ही थाले से रजनी-गन्धाओं और पद्मिनियों को मँगाते हैं और दूसरी ओर इन कागज़ी फूलों से भी अपने उपवन की शोभा बढ़ा रहे हैं। लेकिन जब से यह कागज़ी फूल चाँदी की क्यारियों में आया, चिमनी की ही तरह अपने मालिक की काली सुगन्ध फैला रहा है। चाँदी की छड़ी अलादीन के दीपक से कुछ कम है ! कागज़ के फूल भी महक उठें तो क्या आश्चर्य ! धरती के लाल उसे नहीं चाहते परन्तु यह गन्ध तो नाक में ज़बर्दस्ती घुसी जा रही है। कौन जाने यह 'पीना साँप' उनकी साँस पीते-पीते अब आख़िरी घड़ी में उन्हें पूंछ से मारकर जगाता जा रहा है।

जो लोग उजली साड़ियों या सफ़ेद चीनी से बाज़ारों को काला कर

रहे हैं, वही खुले संसार में इन उजले कागज़ों से अँधेरा फैला रहे हैं, क्योंकि दिन के उजाले में देख नहीं पाते—शिकार करना तो दूर ! कहते हैं झूठ के पाँव नहीं होते, फिर भी वह बहुत दौड़ता है। अखबार जैसे सत्यवादी द्रुतगामी जन्तु के यदि पाँव नहीं हैं तो क्या आश्चर्य ? उस दिन मुहावरों के विशेषज्ञ मेरे एक कोशकार मित्र व्यर्थ ही जीट मार रहे थे कि 'सफेद झूठ' माने क्या ? काश कि वे उजले कागज़ पर छपे हुए इन काले अक्षरों को देख पाते ! न जाने किस विदग्ध ने कहा था कि—

अमन हो जाय अगर मुल्क में अखबार न हो।

तभी तो यह जितने घण्टों में छपता है, उतने मिनट भी जीवित नहीं रहता। परन्तु इसके छापनेवालों की आयु क्यों घटती जाती है ? यदि पढ़ते ही यह दूध की मक्खी की तरह फेंक न दिया जाता तो निरालाजी को अपने तिरस्कृत जीवन के लिए इतनी सटीक उपमा न मिलती—"मैं पढ़ा जा चुका पत्र न्यस्त।" कुछ सर उठानेवाले भी अखबार होते हैं, परन्तु उनके सर उठाते ही सरकार की उँगली उठ जाती है, क्योंकि उनकी दूकान उठ जाने का खतरा रहता है। सरकार की तो केवल एक ही इन्द्रिय होती है—वह है मुंह (बोलने और खानेवाला), कान होता ही-नहीं; लेकिन मुंह से ही सुन भी लेती है वह ! आँख की उसे ज़रूरत ही नहीं पड़ती। सो, वह बोलती रहती है और अद्वैत ब्रह्म की तरह चाहती है 'एकोऽहं बहुस्याम्'। अर्थात् अखबारों को 'हिज़ मास्टर्स वॉयस' के प्रतिशत रेकर्ड के रूप में देखना चाहती है। इस ज़माने में मुंह से बोलना भी गुनाह। लोग ओझैंतों की तरह केवल नाक से बोलते हैं क्योंकि अब साँस लेने की ज़रूरत नहीं रह गयी है।

लिखने को तो इतना लिख गया परन्तु छपने के लिए किसी अखबार में ही भेजना पड़ेगा और पढ़ना भी शायद ही छूटे ! बात ही ऐसी है—

उसीको देखकर जीते हैं
जिस काफ़िर पै दम निकले।

पादुकावियोगोपाख्यान

रामेश्वरसिंह काश्यप

अथ विषय-प्रवेश

वियोगी कवि हो जाता है—यह एक चालू सूत्र है। यहाँ 'वियोगी' शब्द बड़ा गूढ़ है। इस सूत्र की व्याख्या मुख्य रूप से 'वियोगी' शब्द की व्याख्या है। प्रश्न उठता है कि किस पदार्थ से वियोग होने पर आदमी के कवि हो जाने की सम्भावना या खतरा है? उस चीज़ को भी वियोग की भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए। जो खुद वियोगमय नहीं होगा वह दूसरे को क्या खाकर वियोग की अनुभूति कराएगा?

मेरी मति में, उक्त सूत्र में वियोग का कारण पादुका ही है। पादुकाएँ वियोग का प्रतीक हैं क्योंकि वे अपने जोड़े के साथ रहकर भी नदी के दो किनारों की तरह उससे अलग रहती हैं। शहरी पड़ोसी जैसे अगल-बगल रहकर भी एक-दूसरे के लिए अपरिचित बने रहते हैं, वैसे ही जूते भी। ज़िन्दगी-भर साथ रहकर भी दूर रहने का उदाहरण देखना हो तो पादुकाओं को देखिये। बेचारी अपने जोड़े से हमेशा डेढ़ बित्ते की दूरी पर रखी रहती हैं या चलती रहती हैं, मगर मिल नहीं पातीं। अपने जोड़े को कातर दृष्टि से टुकुर-टुकुर निहारना ही इन अभिशप्त जूतों के भाग्य में लिखा है। सभ्यता के प्रारम्भिक काल में, जब से जूता चला, तब से

आज तक, सोचिए, सारी दुनिया में कितने जोड़े जूते बने, और सभी को वियोग की आग में झुलसना पड़ा। यह सोचकर ही हृदय विकल हो जाता है। आह, इन बेज़बान जूतों का कातर रुदन कौन सुनेगा ?

सिपाही सलाम करते वक्त अपने अफसर का ध्यान आकृष्ट करने के लिए जूतों की एड़ियाँ आपस में टकरा देते हैं; लेकिन यह क्षणिक मिलन तो उनके विरह को और भी असह्य बना देता होगा। सागर के प्यासे को एक बूंद पानी से क्या होगा ? अगर ये किसी तरह खिसककर अपने जोड़े के पास पहुँच भी गये तो आदमी अपशकुन मानकर फौरन इन्हें अलग कर देता है। नई उम्र के जूते कभी-कभी वियोग से उतावले होकर काट खाते हैं, मचमचाकर फरियाद करते हैं, लेकिन समझ हो जाने पर किस्मत के साथ समझौता कर लेते हैं। अतः यह साबित हुआ कि जूते पहुँचे हुए वियोगी हैं और इसी कारण इनमें वियोगी बनाने की भरपूर क्षमता भी है।

इन वियोग की मूर्तियों का यानी पादुकाओं का आदमी के साथ वियोग का सम्बन्ध भी है। चकवा-चकई की तरह जूता और आदमी भी रात को एक-दूसरे का वियोग सहन करते हैं। मिलन दिन में सम्भव हो पाता है। इस क्षणिक मिलन में भी बहुत-सी बाधाएँ आती हैं जिनकी वजह से लाचार होकर आदमी को कई बार जूता खोल लेना पड़ता है। जूता चूंकि नाना प्रकार से उपयोग में आकर मनुष्य को पुष्कल सुख देता है, इसलिए मानव-सभ्यता के विकास का इतिहास मनुष्य और जूतों की दूरी अधिक-से-अधिक कम करने का ही इतिहास है। मनुष्य पहले फर्श पर बैठता था तो जूता खोलना पड़ता था, इसलिए उसने कुर्सी का आविष्कार किया। रसोई में पहले जूते पहनकर जाना निषिद्ध था। अब बिना जूतों के डिनरसूट पूरा ही नहीं होता। नहाते समय जूतों से वियोग न हो, इसलिए रबड़ की नहाने की चप्पलें चलीं। उम्मीद की जाती है कि शीघ्र ही सुनहरे सपने लानेवाले जूते बनेंगे, और मनुष्य अपने और पादुका के बीच वियोग की दीवार को तोड़ देगा।

हम किसी के सतत सम्पर्क, सान्निध्य और सायुज्य की कामना तभी करते हैं जब वह हमारे लिए अतिशय सुखदायी हो। सुख देने के क्षेत्र में जूते की तारीफ़ करना सूर्य को दीपक दिखाना है। ऐसे सुखदायी पदार्थ का वियोग यदि मनुष्य को कवि, पागल या दार्शनिक बना दे तो आश्चर्य क्या ?

अच्छी चीज़ पर बुरी नज़र पड़ती है। काजल का डिठौना लगाने से आदमी तो कुदृष्टि से बच भी जाता है लेकिन जूते में जितना ही पालिश का डिठौना लगाइये उसके गायब हो जाने का खतरा उतना ही बढ़ जाता है। अकबर ने इसीलिए चेतावनी देते हुए कहा है—

अपने जूतों से रहें
सारे नमाज़ी होशियार
एक बशर आता है याँ
जूते चुराने के लिए।

पादुका-विरह

मानव-समाज दो भागों में विभक्त है। पहला वह जो जूते पहनता है, दूसरा वह जो नहीं पहनता। फिर वह जो खरीदकर पहनता है, और वह जो चुराकर पहनता है। अन्ततः वह जो जूते चुराना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है, और वह जो कभी-कभी मौका देखकर हाथ मार देता है।

अन्तिम उपभेद की कृपा से आप, हम, ये, वे प्रभृति मानव अक्सर किसी सभा के बाद नंगे पाँव खड़े, बिना किसी छाते के, मित्रों की सहानुभूति की अजस्र वर्षा में घण्टों भीगते रहते हैं।

इन मित्रों की कृपा से आपको अनायास व्यंजना और ध्वनि के दर्शन होंगे। जब आपका जूता गायब हो जाएगा तब ये आपको घेरकर पूछेंगे—"आपका जूता गायब हो गया ?" कोई 'आपका' पर ज़ोर देगा, कोई 'जूता' पर, कोई 'गायब हो गया' पर। एक ही वाक्य में आपको अनेक

अर्थों की छटा दिखाई पड़ेगी। आपका जूता गायब हो गया? यानी उसकी ऐसी आदत तो नहीं थी। मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। आपको भ्रम हो गया है। आपका जूता कभी गायब हो ही नहीं सकता।

आपका जूता गायब हो गया? यानी, हरे-हरे, आपका जूता ही क्यों गायब हुआ? आपका चश्मा गायब हो जाता, घड़ी गायब हो जाती, छाता खो जाता, यहाँ तक कि आप ही गायब हो जाते तो कोई बात न थी। लेकिन जूता? उफ्, बहुत बुरी खबर सुनाई आपने। आपका जूता गायब हो गया? यानी क्या कह रहे हैं आप? अच्छी तरह याद कीजिए। आप पहनकर ही नहीं आये होंगे। भगवान् आपकी रक्षा करे। अब आप दुनिया को कौन-सा मुँह दिखाइयेगा?

पहला कांड—अर्थात् मित्रों की सहानुभूति का फाटक खुलना···

आपको इस जगह जूता खोलना ही नहीं चाहिए था। आप तो चमड़े का थैला रखते हैं। उसका दूसरा उपयोग ही क्या है? उसमें जूते रखकर बैठते तो यह दुर्घटना क्यों होती? सभाओं में जाने के लिए नीलामी जूते खरीदने चाहिए। सभाओं में जूते पहनकर आना ही नहीं चाहिए। आपने अखबारों में अपना साप्ताहिक राशिफल नहीं देखा था? आप जूते पहनकर ही सभा में बैठते तो आपको कोई निकाल थोड़े ही देता? जब जूता पहनने का शौक है तो सभाओं में आना-जाना बन्द कीजिये। जूते रखने का सबसे अच्छा ढंग यह है कि एक जगह न रखिए। दाहिने पाँव का इस दरवाज़े पर तो बाएँ पाँव का उस दरवाज़े पर। कभी चोरी न होगी। अगर दोनों जूते एक ही पाँव के होते तो चोर कभी ले ही नहीं जाता। घर जाइयेगा, और पत्नी पूछेंगी, सभा में इतने लोग थे और किसी का कुछ नहीं हुआ, आप ही का जूता क्यों गायब हो गया, तब क्या कहियेगा?

दूसरा कांड—अर्थात् मित्रों द्वारा पादुका-पुनःप्राप्ति के लिए परामर्श···

आप नंगे पाँव ससुराल चले जाइए। आप सभा करने वालों को वकील से नोटिस दिलवाइये। किसी साबुन के विज्ञापन में अपनी तस्वीर छपाइये कि जूता खो जाने के कारण मेरा चेहरा काला पड़ गया था; जब से यह साबुन लगाने लगा हूँ, जूते की याद बिलकुल नहीं सताती; चेहरा भी भरसक साफ होता जा रहा है। आप सारे शहर में इश्तहार बँटवाइये, "खो गया, खो गया, मेरा जूता खो गया"। इश्तहार के साथ चित्र भी चाहिए। जूते का हो तो सर्वोत्तम, नहीं तो आपका भी चलेगा। आप ईंट का जवाब पत्थर से दीजिए। कल ही किसी सभा में जाकर एक की जगह चार जोड़े उठा लाइए। चलिए, मैं जूते दिला देता हूँ। मेरे दोस्त की दूकान पास में ही है। शर्त यह है कि दाम नकद लेगा। आप एक महीने तक दाढ़ी मत बनवाइए, जलपान छोड़ दीजिए, या एक शाम खाइए, जूते का दाम निकल आएगा। आप अपने जूते का निशान तो पहचानते ही होंगे। उसे देखते-देखते चले जाइए। अगर चोर पहनकर गया होगा तो ज़रूर पकड़ा जाएगा। लिस्ट बनाइए कि सभा के बीच में कौन-कौन बाहर गया। नहीं, इसकी लिस्ट बनाइए कि शहर में किसको जूता नहीं है। आप एक हफ्ते तक उन सभी जगहों पर खड़े रहिए जहाँ लोग जूते उतारते हैं। सड़क पर जब चलिए, लोगों का जूता निहारते चलिए। जिसका जूता आपके-जैसा लगे उसका पीछा कीजिए। नोट कीजिए कि वह कहाँ-कहाँ जाता है। उससे दोस्ती कीजिए और तब तक उसका पिण्ड न छोड़िए जब तक भेद खुल न जाए।

तीसरा कांड—अर्थात् जूता-विरह के मूल कारण का मित्रों द्वारा अनुसन्धान···

शायद इसने, जिसने पिछली सभा में अपना खोया हुआ जूता आपकी असावधानी से पहचान लिया होगा। भई, देश में इतनी बेकारी है, लोग

जूते न चुराएँ तो क्या करें ? यह किसी ऐसे आदमी का काम है जिसके पाँव आपके ही नाप के बने हुए हों। यह किसी मज़ाकपसन्द दोस्त का काम है, साल दो साल बाद वे लौटा देंगे। नहीं, यह काम उस बूढ़े चपरासी का है। देखिए, लोगों को हँस-हँसकर पानी पिला रहा है। पानी पिलाने में भला हँसने की क्या ज़रूरत ? वह चुराये हुए जूतों की भीतरी खुशी रोक नहीं पा रहा है। मुझे पूरा शक उस लँगड़े आदमी पर है। उसे तो विश्वास है कि कोई उस पर सन्देह कर नहीं सकता। जासूसी उपन्यासों के अनुसार उसी पर सन्देह करना चाहिए जो सन्देह के लायक ही न हो। अगर यह बात है तो सभी महिलाओं के हैंडबैगों की तलाशी लीजिए।

चौथा कांड—अर्थात् मित्रों द्वारा विरह की समस्या का सामाजिक विश्लेषण···

एक आपकी ही बात नहीं; जूते आये दिन गायब होते हैं। जूतों का बीमा होना चाहिए। जूता भी राष्ट्रीय सम्पत्ति है और उसकी रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। जगह-जगह साइनबोर्ड लगाये जाएँ कि जूता चुराना पाप है। जूता-सुरक्षा-सम्बन्धी शिक्षा दी जाए। जूताचोरी से उत्पन्न होने वाली मानसिक बीमारियों के लिए अस्पताल खुलने चाहिए। आजकल जूता-चोरी भी बहुत होती है, और हार्टफेल भी बहुत होते हैं। इस पर अनुसन्धान होना चाहिए कि दोनों में कार्य-कारण-सम्बन्ध है या नहीं ? जूतों के लिए एक खास किस्म का ताला बनना चाहिए।

पाँचवाँ कांड—अर्थात् आपका अरण्य-रोदन तथा नंगे पाँव गृह-गमन···

इस प्रसंग में आप सभी मित्रों के चले जाने के बाद बार-बार लौटकर उस स्थान पर आएँगे और गाएँगे "एहि ठैंया जूतवा हेरा गइले रामा" और हेमलेट की तरह सोचेंगे 'घर जाऊँ या न जाऊँ, यही एक प्रश्न है।'

इति पादुकावियोगोपाख्यानम् समाप्तम्।

तीन घेरे : एक क्षितिज

●

शिवप्रसाद सिंह

दरवाज़े के सामने चबूतरे पर चारपाई थी और उस पर साफ़ चादर की तरह बिछी हुई चाँदनी। चाँदनी काफ़ी चटख थी, पर गरमी के आसमान में फैले धूल के मटमैले चँदोवे से छनकर आने की वजह से वह थोड़ी धूमिल हो गयी थी···फालसई रंग की। मैं चारपाई पर लेटकर उस चाँदनी के भीतर पूरी तरह खो जाना चाहता था, शायद इसी से कुछ गरमी का ताप कम हो सके। हलकी-हलकी झपकी आने लगी थी···तभी एक अछूता-सा कुंवारा स्वर आगे फैले सपाट मैदान के पूरे सन्नाटे को बेधता मेरे इर्द-गिर्द मँडराने लगा। एक क्षण ही बीता होगा कि गीत की पहली पंक्ति कच्चे गले में पूरे आरोह पर चढ़कर टूट गई। तभी दूसरे कण्ठ ने अंजुरी बढ़ाकर राग के टूटे हुए फूलों को सम्पुट में झेल दिया। ओ···तो दीना चमार की दोनों लड़कियाँ हैं ये! बुधिया-सुधिया। कितनी गन्दी, काली हैं दोनों; पर अँधेरे के परदे में छिपे इनके कण्ठ की आवाज़ कितनी मीठी है! दूध की तरह कितनी उजली है! कितना कम्पन है इसमें···

> **लौटि आवऽऽ लौटि आवऽऽ फूलमती बेटी-ी-ी हो—**
> **बेटी नाहीं होइहै तोहरो बिआह**
> **नइया दूर गयी।**

कौन जा रहा है ? किसकी 'नइया' बेबसी के समुद्र में अनचाहे भी बढ़ी जा रही है। कौन हैं वे जो किनारे खड़े होकर अलंघ्य जलराशि की गोद में जाती फूलमती को देखकर हृदय की सारी आकुलता कण्ठ में बसाये लौटने की पुकार दिये जा रहे हैं ? और तभी जैसे मेरे मन की घुमड़ती सारी शंकाओं को धकेलती हुई राग की लहरें टूट-टूटकर बिखरने लगीं :

फइसे के लौटि आवौं अम्मा हो—
अम्मा आजि अम्मा कालिह होइबू सासू हमार···
नइया बूर गयी···

मैं इस राग को सुनकर चौंक पड़ता हूँ। लाख कोशिश करने पर भी तन्द्रा में खो पाना मुश्किल है। सारी स्वरमोहिनी मेरे मन के एक झटके से टूट जाती है। भाई-बहन का ब्याह···जाने किस विस्मृत युग के नष्ट-भ्रष्ट इतिहास का पन्ना है यह ! नये मकान बनाने के लिए नींव खोदी जा रही है। आलीशान आधुनिक ढंग के नये मकान···और नींव में यह क्या दबा है ! कुदाल से टकराकर हड्डी का एक लम्बा-चौड़ा कंकाल बाहर आ जाता है। जाने किस समुद्र का अवशिष्ट जल है वह, जो सदियों की रेत के नीचे दबा-दबाया अभी भी बचा हुआ है।

तब क्या था, पता नहीं ? समुद्र अवश्य था चारों तरफ़। सृष्टि में सबसे विस्तृत अंश उसी का था। क्योंकि किसी बलवती इच्छा के वशीभूत होकर विवेक खो देने पर भी यमी को समुद्र की याद न भूली। नीले आकाश के नीचे नील जलराशि का अपार पारावार। जब लेहरें उठतीं तो पूषा की किरणें उस पर हिरण्यगर्भ का एक नया आवरण डाल देती थीं, जिसकी चमक में सब-कुछ सुनहरा लगता···। नील-पीत वरुण लोक। पृथ्वी पर घने जंगल थे। मनुष्य वनचर का जीवन व्यतीत करता था। तब उसकी लालसाएँ उलझनों के आवरण में लिपटती नहीं थीं और न उन्हें व्यक्त करने में वह कभी संकोच का अनुभव ही करता था। मधु वात और मधु जल के बीच पली यमी एक दिन प्रकृति के अपरूप सौन्दर्य से विमुग्ध, किसी नयी भावना से आक्रान्त हो उठी। उसने अपने भाई

यम को 'प्राणों का सखा' कह सम्बोधित किया और हृदय की कस्तूरगन्धी तीव्र वासना से प्रेरित होकर बोल उठी—

"हे यम, मैं इस विशाल समुद्र के मध्य तुमसे मिलना चाहती हूँ। तुम माता की कोख से उत्पन्न मेरे जन्म के सखा हो।"

"हे यमी, मेरी सहोदरा, प्रजापति के स्वर्गलोक के देवगण विचरते हुए हमें देख रहे हैं।"

"यम, देवताओं को अपना इच्छित करने की सामर्थ्य प्राप्त है, इसीलिए तुम मेरी इच्छा को पूरी करो।"

"यमी, मैं सत्यभाषी, तुमसे कहता हूँ सुनो, सूर्यलोक के निवासी जलधारक आदित्य हमारे पिता और वहीं वास करने वाली योषा हमारी माँ हैं।"

"हे यम, सबके आत्मारूप प्रजापति ने हमें जन्म से ही साथी बनाया है। आकाश और पृथ्वी भी हमारे इस जन्म-सम्बन्ध को जानते हैं, अतः प्रजापति के कर्म को कोई अन्यथा करने में समर्थ नहीं है।"

"हे यम, प्रथम दिन के आचरण को जानने वाला कौन है! उसे किसने देखा है! मित्रावरुण के महान् धाम के बारे में तुम क्या जानते हो? हे यम, जैसे रथ के दोनों चक्र एक कार्य में प्रयुक्त होते हैं, वैसे ही हम समान मतिवाले समान कार्य को करें।"

"हे यमी, देवताओं के दूत सदा चैतन्य रहते हैं, उनके लिए दिन-रात की कोई बाधा नहीं है, अतः तुम मेरे पास से दूर हो जाओ। दिन-रात्रि में यम के यज्ञ-भाग को यजमान प्रदान करें। सूर्य का तेज यम को तेजस्वी बनाये, यम की बहन भाई से दूर चली जाये।"

"हे यम, जिस भाई के रहते बहन अनाथ रहे वह कैसा भाई है!"

"यमी, मैं तुम्हारे स्पर्श से दूर रहना चाहता हूँ।"

"हे यम, तुम दुर्बुद्धि हो, मैं तुम्हारे मन को समझ नहीं पाती।"

"यमी, बस चली जाओ, इसी में हमारा-तुम्हारा कल्याण है।"

(ऋग्वेद, १०।१०)

भाई-बहन के बीच का यह संवाद मानव-परिवार की प्रथम विजय का घोषणापत्र था। मनुष्य-मनुष्य के बीच पनपते हुए अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का नया मन्त्र था। भाई-बहन के सम्बन्धों की दिव्यता की ओर संकेत करने वाला यह नया रत्न था, इसी कारण ऋषियों ने इसे ऋग्वेद की मन्त्र-मंजूषा में प्रतिष्ठित कर दिया।

मानवीय कल्याण, सुरुचि और पवित्रता के उद्देश्य से यम ने जो अग्नि प्रज्वलित की, उसने सदियों से हमारे मन में व्याप्त अन्धकार को दूर किया है। इस तपश्चर्या में तपकर यम का हृदय कुन्दन की तरह चमक उठा। और यम-यमी से यम-यमुना तक फैली हुई विकसित भारतीय संस्कृति साक्षी है कि यमी ने यमुना के रूप में अपने भाई के भ्रातृत्व की रक्षा करने का अद्भुत कार्य पूरा किया। यमुना का 'भैया दूज' इतिहास की एक नई घटना बन गया। यम-यमी के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध के पीछे एक निगूढ़ अर्थ छिपा है। यम तो यमी का भाई है। उसके प्रति उसके मन में स्नेह, ममता, प्रेम का होना नैसर्गिक है। किन्तु भगिनीत्व की परीक्षा तो दूसरों के प्रति अर्पित सेवा में है। जो दूसरों को अपना परिवार बना ले, वही बहन है। और जो जितने बड़े समूह को अपनी निःस्वार्थ सेवा, ममता और प्रेम के बन्धन में बाँध सके, वह उतनी ही महान् है। भगिनी अथवा 'सिस्टर' शब्द के पीछे अहेतु निःस्वार्थ बलिदान की यही अद्भुत भावना अन्तर्निहित है।

भारतीय पारिवारिक जीवन की अच्छाई-बुराई का अनुमान लगाना हो तो इस भगिनी अथवा बहन शब्द के व्यापक गूढ़ अर्थों की व्याख्या ज़रूरी है। भारतीय परिवार में 'बहन' मेरुदण्ड है। वह मर्यादा, सौन्दर्य और ऊँची प्रेम-साधना की जीवित प्रतिनिधि है। हो सकता है कि सृष्टि के आदिकाल में, मातृसत्ताक परिवार में, स्पर्धा और शक्ति-परीक्षा के क्षेत्र में वह एक उग्र प्रतिद्वन्द्वी रही हो, किन्तु सत्ता को हस्तगत करने की उन सारी चेष्टाओं को वह बहुत पहले छोड़ चुकी है, समाज और परिवार की स्वस्ति के नाम पर, एक घर में जन्म लेना, पलना, बढ़ना और फिर

किसी सामाजिक नियम को मानकर दूसरे स्थान पर ब्याहकर चले जाना, यह एक बहुत बड़ा बलिदान है। अपनी ममता, सेवा और कर्तव्य-परायणता के बल पर दूसरे परिवार में आदर और स्नेह का भाग पाने-भर से उस बलिदान का महत्त्व कम नहीं हो जाता। असल में, बहन बलिदान की ही समानधर्मा है। हमारा परिवार बहनों के इसी बलिदान पर टिका हुआ है। ज्यों-ज्यों 'बहन' के व्यक्तित्व में दिव्यता और गरिमा का समावेश होता गया, उसकी रक्षा और मर्यादा का प्रश्न भी विकट रूप लेता गया। एक ओर वह जिस घर में जन्मी, उसके सदस्यों के हृदय में उसने मर्यादा और संयम के फूल बोये···दूसरी ओर जहाँ वह गयी वहाँ उसने अपने परिवार की प्रतिष्ठा को सर्वोपरि स्थान दिया। समाज में उसे दूसरों से आदर-सम्मान इसलिए मिला कि वह हर व्यक्ति को, निकट का हो या दूर का, व्यापक 'बहन-धर्म' की याद दिलाती रही। जिस भी घर में बहनें हुईं उसके परिवार का सदस्य दूसरे की बहनों के सामने नतमस्तक हो जाने की शिक्षा अपनी बहन से ही पाता रहा। यही नहीं, बहन के महत्त्व का सूत्र हर संकट से नारी जाति की रक्षा का सन्देश भी हमें सुनाता रहा। पुरुष वर्ग ने इस सर्वस्व बलिदान देने वाली नारी पर श्रद्धा के फूल चढ़ाने में भी कभी कमी न की।

राणा साँगा के भयंकर शत्रु बाबर को रानी कर्णावती भूली न थी। किन्तु उसे विश्वास था कि बाबर का लड़का हुमायूँ उसकी राखी के धागों का बन्धन तोड़ नहीं सकेगा। और भारतीय वातावरण में जन्मे हुमायूँ ने उस राखी के बन्धन को सहर्ष स्वीकार कर लिया। स्वजातीय बहादुरशाह के आक्रमण से शत्रु-गढ़ चित्तौड़ की रक्षा के लिए वह अविलम्ब रवाना हो गया। बहादुरशाह को हराकर जब वह चित्तौड़ के क़िले में घुसा तो जौहर की चिता में जली कर्णावती की राख को माथे से लगाते समय उसकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ पड़ी।

भगवानदास की बहन जोधाबाई ने भी एक बलिदान ही किया था···बृहत्तर हिन्दू-परिवार के लिए। विदेशी, विजातीय और विधर्मी

को कन्या ब्याह देना बुद्धिमत्ता थी अथवा भीरुता ! इसे बहुत-से विद्वान् बलिदान मानते हैं।

"सैकड़ों-हज़ारों राजपूतों का बलिदान न देकर अकेली अपनी ही देह का बलिदान देने में बुराई क्या है ? इस्लाम धर्म यदि इस देह को पाकर प्रसन्न होता है, तो जनसाधारण की भलाई के लिए उसे देने में क्या हर्ज़ है ? एक राजकुमारी को ऐसा विचार आया। कुटुम्ब की, प्रजा की और सैनिकों की मारकाट को रोकने के लिए यदि कोई राजकुमारी चिता में जलकर प्राण दे दे तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, फिर परधर्मी के साथ बलात्कार से होने वाला लग्न अक्षम्य क्यों है ! ऐसा लग्न भी तो एक प्रकार का अग्नि-स्नान ही है"—गुजरात के सुप्रसिद्ध कथाकार रमणलाल देसाई ने 'पहाड़ के फूल' उपन्यास में जोधाबाई के बलिदान की इन शब्दों में अभ्यर्थना की है।

कल्याण और सौभाग्य की यह पारिवारिक सदिच्छा सर्वस्व बलिदान कर देनेवाली 'भगिनी' के रूप में मूर्तिमान् हो उठी। 'सिस्टर' शब्द की आज जो भी दुर्गति हो उसके मूल में विश्वव्यापी कल्याण की एक अनुपम अर्थवत्ता छिपी हुई है। आज 'सिस्टर' अन्तर्वैयक्तिक मर्यादाहीन सेक्स का आवरण बन गया है···किन्तु आवरण की शक्ति ही क्या उसके पवित्र अर्थ की अभिव्यंजना नहीं करती ? आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि 'सिस्टर' शब्द संसार की सभी भाषाओं में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। पुरानी अंग्रेज़ी में Sweoster, डच भाषा में Zuester, जर्मन में Schwester, मध्यकालीन अंग्रेज़ी में Suster, स्कैण्डेनेवियन में Systir, स्वीडेन की भाषा में Systor, लैटिन में Soror, और इन सबका मूल कहाँ है ! इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका देखिए और मूल स्पष्ट हो जायेगा। मूल में है संस्कृत शब्द स्वसृ, जिसका अर्थ अमरसिंह से पूछिए। सुष्ठु अस्यति अस्यते वा। सौष्ठव। स्वस्ति। अर्थात् जिसके कारण कल्याण हो, सौष्ठव हो।

और एक दिन ऐसा भी आया कि पारिवारिक कल्याण जन-जन का

कल्याण बनने के लिए मचल पड़ा। युद्ध, दैवी प्रकोप, समय-समय पर अपनी सारी उग्रता के साथ उपस्थित होने लगे···और इसका पहला घन-घोर अन्धकार क्रीमिया-युद्ध के समय प्रकट हुआ। हज़ारों घायलों की चीत्कार से आसमान भर गया। तत्कालीन ब्रिटिश रक्षामन्त्री सिडनी हरवर्ट युद्ध-क्षेत्र से आने वाली खबरों से परेशान हो गये। कहाँ हैं वे देव-दूत जो मृत्यु की घाटी में जाकर घायलों की सेवा करें! कहाँ हैं ऐसी तपोमूर्ति त्यागी बहनें जो मजलूम, दुःखी और अभागे लोगों के घावों पर ममता की पट्टी बाँध सकें! कौन पिता अपनी कन्या को ऐसे कष्टपूर्ण स्थान में जाने की आज्ञा देगा···कौन भाई अपनी बहन से रक्त की नदी में प्रवेश करने का आग्रह करेगा···? शायद इस देश में ऐसी लड़कियाँ नहीं रहीं, जो वेदना और दुःख की पुकार को सुन सकें।···दुःखी लोगों की पुकार पर अपना सब-कुछ, सुख, सौन्दर्य, प्रेम-प्रणय, उल्लास-विलास छोड़कर युद्ध-भूमि में जाने को कौन तैयार होगा?

और तब इस निराशा-मायूसी के अन्धकार को चीरती हुई एक ज्योति-रेखा चमक उठी। विलियम एडवर्ड की इकलौती पुत्री फ्लोरेन्स घायलों की शुश्रूषा के लिए अपना बलिदान करने को आगे बढ़ी। स्कुतारी में घायलों के अस्पताल में अँधेरी दालानों में हाथ में लैम्प लेकर इस शय्या से उस शय्या के पास चलती हुई उस महान् नारी-मूर्ति को कौन भूलेगा! ममता की इस प्रतिमा की झलक लांगफेलो की बूढ़ी आँखों में झाँककर देखिए—

मैं सोचता हूँ···रात में ज्यों-ज्यों पढ़ता हूँ
खबरें, हज़ारों घायलों की,
खाइयाँ, कुहरा, सील और उनमें जमे हुए
बर्फ़ीले कैम्प।
युद्ध-क्षेत्र से लाये हुए हज़ारों मुर्दे, अधमुर्दे
उस उदास गलियारे में भरे हुए
पत्थरों के सख्त फ़र्श पर फेंके हुए।

आह, वह देखो उस पीड़ा के घर में कौन है वह
हाथों में लैम्प लिये
घोर अँधेरे में
इस कमरे से उस कमरे को जाते हुए
खुशियों के ख्वाब-से धीमे
जब उसके साये दीवालों पर फिसलते हैं
तब पीड़ा से व्याकुल
अनबोले घायल उसे चूमने को
करवटें बदलते हैं।

—सान्टा फिलोमीना

यह है दुखियों का अछोर परिवार और यह है उस परिवार की स्वामिनी, जिसके बलिदान को अपनी अनन्य श्रद्धा के फूल देते हुए अनाथों ने, अपाहिजों ने, सभी ने एक स्वर में पुकारा, 'सिस्टर'।

सोने की लूट

●

विवेकी राय

सवेरे-ही-सवेरे पूरब के क्षितिज पर लंका-काण्ड दिखाई पड़ा। काले-काले घनखण्ड रावण की सेना के समान छा गए। किसी कोने से सूरज की पीली ज्योति-रेखा राम के तेजोद्दीप्त मुखमण्डल की आभा का पता बताती-सी लगती। यह ज्वलन्त रूप कभी प्रकट, कभी अर्द्धप्रकट हो जाता है और कभी पूरा छिप जाता है। निशाचरों का दल वायु-वेग से मुक्त नभ में इधर से उधर धा रहा है, फैल रहा है, सिकुड़ रहा है। नानाकार से अपनी माया का विस्तार कर रहा है। यह कज्जलगिरि-समूह का बीहड़ वन और इसका समस्त तमस् गूढ़ता को चीरकर ऊपर उठता हुआ राम का अलौकिक कान्ति वाला सत्य स्वरूप ! अहा, अब लड़ाई जमकर होगी। वह देखो सूरज को देखकर लगता है—

तेज पुंज रथ दिव्य अनूपा,
हरषि चढ़े कोसलपु भूपा।

अब आसमान से उतरकर मैं ज़मीन पर आ गया। शरद ऋतु की दूतिका खंजन को आए लगभग एक मास हो गया। कास फूलकर झड़ गये। मदभीनी बाजरे की महक खुलकर लुट गई। चित्रा नक्षत्र बीत चला। शनैः-शनैः सरकती विजयादशमी भी आज आ गई, परन्तु अब

तक धरती पर शरद् ऋतु उतरकर नहीं आई। हवा में वह शीतलता नहीं है, अब तक उमस-सी लगती है। आकाश में नील धवलता का आगमन नहीं हुआ। अब तक वह मेघाडम्बरों से आपूरित रहता है। धरती पर कीचड़-पानी का प्राधान्य है। अब तक बाढ़ का पानी फैला है। किसान हाथ-पर-हाथ रखे बैठे हैं। साँस रोककर पछिमा हवा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। क्या हो गया प्रकृति को? किसी रावण के प्रभाव में वह आ गई है क्या? क्या राम की प्रजा को वह भूखों मारने का कुचक्र रच रही है? ज्ञात तो ऐसा ही होता है। खेतों के रास्ते आजकल जहाँ बैलों की टुन-टुन-टुन घण्टी से मुखरित रहते वहाँ भारी सुनसान है। खेतों में बोआई का जहाँ मेला उतर जाता वहाँ पूरी उदासी है। आसमान में जहाँ चमचमाता शरद् का सूरज हलकी शीतलता में मधुर गरमी की गुदगुदाहट देता हुआ पूरे दिन चक्कर लगाता वहाँ गोल के गोल नाना रूप-रंग के बादल अपना क्रीड़ागार बनाये हैं—

प्राबृट सरद पयोद घनेरे,
लरत मनहु मारुत के प्रेरे।

अच्छा लो, निशाचरी माया का आज अन्त है। आज विजय-दिन है। राम की प्रजा आज खुशियाँ मना रही है। रह-रहकर क्षण-क्षण में, अपनी बेहाली के बीच, अपनी चिन्ता के बीच उसे याद आता है कि आज विजय-दिन है।

मेरा ध्यान भंग हुआ तो सामने सिसकती हुई गोमती खड़ी थी। एँ! क्या बात है? सवेरे-सवेरे यह लंकाकाण्ड यहाँ भी उतर आया? पूछा, "क्या बात है गोमती?"

"घर चलकर ज़रा देख लीजिए," उसने कहा, "मोहन बाबूजी ने तमाम नावदान का पानी ठेलकर हमारे दरवाज़े पर कर दिया है। गन्दगी के मारे रहा नहीं जाता। ऊपर से दोनों भाई लाठी लेकर चढ़ आये कि बोलोगी तो ज़बान खींच लेंगे।"

वहाँ जाकर देखा तो लड़ाई अभी हथियार से नहीं हो रही थी,

खैरियत थी। गोमती के पति गोबिन का पक्ष गरीबी और दुर्बलता के कारण रो रहा था। वह कह रहा था, "मोहन भैया, क्यों छाती पर कोदों दल रहे हैं, कह दीजिए साफ़-साफ़ कि मैं गाँव छोड़कर चला जाऊँ।"

"तुम गाँव छोड़कर जाओगे कि कपार पर चढ़कर बैठोगे? दलिद्दर कहीं का! बराबर चर-चर करता रहता है!"

"हम दलिद्दर हैं अपने घर के और आप लखू साहु हैं अपने घर के। कभी एक पैसा दिया है?"

"मुफ्त में पैसा लुटाने के लिए तुम्हारे बाप ने धर्मखाता खोल रखा है कि बाँटता फिरूँ?"

"हमारे बाप का नाम बेकार क्यों ले रहे हैं? उनकी करना सोचकर आप लोगों को चुल्लू-भर पानी में डूब मरना चाहिए।"

"बस, बस कर!" मोहन के भाई बनारसी ने गरजकर कहा, "बद-माश कहीं का! बहुत वक्ता हुआ है! हम अपनी ज़मीन में नाबदान का पानी बहायेंगे अथवा चन्दन छिड़केंगे तुमको क्या?"

"यहाँ आपकी ज़मीन है हमारे दरवाज़े के सामने?"

"तुम्हारे दरवाज़े के सामने नहीं है तो क्या पानी ज़मीन से आसमान के रास्ते बहेगा?"

"उसका इन्तज़ाम कीजिए।"

"इन्तज़ाम तुम करो। हमारा पानी ऐसे ही बहेगा।"

"यह तो बरिआई की बात हुई बनारसी भाई।" मैंने कहा, "पतली-सी गली है। यही रास्ता है। तुम्हारे घर पचासों घड़ा पानी रोज़ गिरता है। यह गन्दगी का नाला गोबिन के दरवाज़े से होकर बहता रहेगा तो कैसे काम चलेगा? जैसे पहले पानी फेंकवाने का प्रबन्ध करते थे वैसे कर दो अथवा सोख्ता बनवा दो।"

उसी समय मोहन के घर से किसी स्त्री की आवाज़ आई, "गोहार बुला लाई है राँड कहीं की!"

"बहुत घमण्ड खा डालता है बहन!" गोमती के मुँह से निकल गया,

"रावन का भी घमण्ड नहीं रहा।"

"देखा, मास्टर ?" बनारसी ने लाठी सँभालते हुए कहा, "चाण्डालिनी हम लोगों को रावण बना रही है। अब आप हट जाइए। अब हम नहीं मानेंगे।"

उसी समय एक हाँडी आसमान के रास्ते से भनभनाती हुई गोमती के आँगन में हाइड्रोजन बम की भाँति गिरी और फूट गई।

बनारसी गोबिन पर झपटा तब तक कई लोगों ने पकड़ लिया और खींचकर दरवाज़े पर दोनों भाइयों को पकड़ लाए। उधर औरतों का युद्ध पूरे वेग पर शुरू हो गया। हाँडी, घड़े के टुकड़े, ईंटें, कीचड़ और मिट्टी के ढेले दोनों आँगनों में बरसने लगे। चुनी हुई गालियों के साथ वाक्‌धारा पूरी काव्य-धारा की भाँति प्रवाहित थी। दोनों परिवारों की यह लीला अड़ोस-पड़ोस के लोग जमा होकर देखने लगे। मैंने सोचा, आसमान में ही नहीं आज धरती पर भी रामलीला शुरू है। यह लंका-काण्ड का लोमहर्षक दृश्य प्रमाण है—

नानाकार सिलीमुख धाये,
दिसि अरु विदिसि गगन महि छाये।

दरवाज़े पर आया तो हलवाहा हल-बैल के साथ तैयार मिला। बोला, "आज विजयादशमी है न ?"

उसका तात्पर्य स्पष्ट था : उसे पैसा चाहिए। मिठाई आज वह भी खायेगा। धन्य है वह राम जिसके प्रताप से एक दिन के लिए इन्हें भी मिठाई खाने को मिल जाती है ! दुनिया के सर्व प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थों से पूर्णतया वंचित संसार के सबसे महत्त्वपूर्ण जीव ! मार्क्स युग के 'पूज्य-पुरोहित' और गांधी युग के हरिजन !

जब मैंने उसे एक चवन्नी दी तो बोला, "मिठाई खाने से ही नहीं दिन कटेंगे, घर में खाने को कुछ नहीं है।"

बात ठीक ही थी। जिसके घर खाने का ठिकाना नहीं वह क्या मिठाई खाये और क्या न खाये ! यह इस प्रकार का मेरा ही एक हलवाहा

नहीं है, इस प्रकार का कोटि-कोटि लोगों का एक वर्ग है जो दूसरों के लिए रात-दिन श्रम करके हलुआ-पूड़ी का प्रबन्ध करता है और स्वयं उसके लिए त्योहार भी त्योहार नहीं है। आज विजयादशमी है। राम और रावण की लड़ाई है। राम की विजय होगी। अत्याचारी रावण मारा जायेगा। राम की प्रजा प्रसन्न होगी। पर क्या वास्तव में राम की प्रजा प्रसन्न होगी ?

यहाँ तो भूख का रावण, गरीबी का मेघनाद और मूर्खता का कुम्भकर्ण पूरे जोर पर हैं। रामराज्य दूर है। श्रमिक देवता खून दे-देकर क्षीण-प्राण हो रहे हैं। पूरी दुनिया लंका हो गई है। एक ओर सोने का संसार है, दूसरी ओर दानवी चक्र में पिसी गरीब प्रजा के आँसुओं का समुद्र है! आँसुओं के समुद्र के कोट के बीच बसी यह सोने की लंका। आतंक का डंका गरीबों की छाती पर चढ़कर बजता है। कहाँ है सत्य ? कहाँ है न्याय ? कहाँ है मानवता ? कहाँ है धर्म ? कहाँ है मानवी गुण ? सब सोने की लंका की नींव में दबा दिये गए। आज सदाचार की सीता सोने की लंका में कैद कर ली गई है। दानवों के लिए आदमी कीड़े-मकोड़ों के समान हैं। सोने वाले मिट्टी वालों को खाते हैं। मिट्टी वाले त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। इनके राम अभी वन-वन घूम रहे हैं। अजी देर नहीं कि नर-वानरों की सेना लंका के कंगूरों पर देखी जायेगी! घनघोर लड़ाई होगी। सोने की लंका ढाहकर दबे मानवी गुणों का उद्धार करना होगा। बन्दिनी सीता का उद्धार करना होगा। महावीर-सा गरजना होगा। उस दिन इनकी विजयादशमी होगी और यही दृश्य उस दिन का होगा—

रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू,
मानहु अमित केतु अरु राहू।

हलवाहों ने कन्धे पर हल उठा लिया। पुराने जमाने का जमीन जोतने का यन्त्र। इसे लंका के निशाचरों ने अपना एक हथियार बनाया था। जो सभ्य प्रजा के लिए जीवन का साधन था वही बर्बरों के लिए विनाशक हथियार था। अब वही जमाना फिर मानो आ गया। यह हल

मानो धरती में नहीं, गरीबों के पेट में चलता है। गरीब दिन-पर-दिन गरीब होते जा रहे हैं। वह कौन छिपा रावण है, जो अज्ञात रूप से शोषण करता है ?

"क्यों भाई, क्या खेत बोने लायक हो गए ?" मेरे पड़ोसी माधो भाई ने पूछा।

"नहीं, अभी तो खेतों में निखार आने में देर है। आज विजय-दिन है। एक जगह दो मण्डा खेत मिलेगा। सोचा, शुभ दिन को कुछ बो दिया जाये।"

"यही काम महन्तजी भी करने जा रहे हैं। कहते हैं कि विजय-दिन को ज़रूर थोड़ा बोना चाहिए और रामलीला देखनी चाहिए।…मगर हम लोगों ने तो जो रामलीला कल देखी वह किसी युग में नहीं लगी होगी।"

"कौन-सी लीला ?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

'नहीं जानते हो ? सुनो। कल हम लोग राशन लाने पहुँचे। सोचा गया कि विजयादशमी को कुछ त्योहार-जैसा लगना चाहिए। दूकान पर पहुँचे तो सवा-दो सेर की जगह पर दो सेर का चावल बिक रहा था। झख मारकर लोग ले रहे थे। बोलने पर सुनते नहीं थे और उलटे ताव बघारते थे। एक आदमी ने साहसपूर्वक कहा कि तमाम जगह सरकारी दूकानों पर सवा-दो सेर का बिक रहा है और आप लोग दो सेर का क्यों बेच रहे हैं ? इस पर दूकानदारों की ओर से कई गुण्डे लाठी लेकर मारने दौड़े। उन्होंने दूकान बन्द कर दी और बोले कि जाओ जो देते थे वह भी अब नहीं देंगे। सब लोग अपना-सा मुह लिये चले आये। मैं वहीं रह गया। चार-पाँच व्यक्ति और थे। शाम हुई तो तीन व्यक्ति चावलों का भारी-भारी गट्ठर लेकर निकले। हम लोग उनके पीछे हो लिये। रास्ते में ज्ञात हुआ कि चावल नाजायज़ रूप से धारीपुर में जा रहा है जो इस दूकान के क्षेत्र में नहीं है। ले जाने वाले लोग दूकान के मुनीम के घर के हैं। अब हम लोगों में शक्ति आ गई। एक तो दिन-भर की परेशानी के

बावजूद दो रुपये का भी चावल न मिलना और दूसरे यह धाँधली। चावल सहित लोगों को पकड़कर थाने में ले जाकर पुलिस के हवाले करा दिया गया।"

"ज़रूर यह भी रामलीला का ही एक टुकड़ा है।" मैंने कहा, "आज देखो चारों ओर अराजकता है। भ्रष्टाचार का रावण सुराज्य के राम के साथ लड़ रहा है। वास्तव में इस प्रकार पुलिस को देना, पकड़ना, दण्ड दिलाना आदि क्या है? यह सब वैसा ही है जैसा रावण के सिरों को काटना। सिरों के काटने से रावण मरेगा? अजी इस भ्रष्टाचार के रावण के हृदय में कुशासन का अमृत बसता है। जब तक वह नहीं सूखेगा रावण नहीं मरेगा।

काटत बढ़हिं सीस समुदाई,
जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।

"तुमने तो भाई त्रेता युग की लड़ाई को आज के ज़माने पर घटा दिया।"

"क्या तुम्हें नहीं मालूम हो रहा है? भाई साहब, राम-रावण की लड़ाई तो एक-एक क्षण में व्यक्ति के जीवन में, समाज के जीवन में और राष्ट्रीय जीवन में ही हो रही है।"

"तभी तो इस लड़ाई का, इस पर्व का इतना महत्त्व है? चलो मनबोध भाई, हम लोग भी रामलीला देखने चलें।"

"मैं तैयार हूँ।"

थोड़ा दिन शेष था और लीला-भूमि तीन-चार फर्लांग रह गई थी। मेले की गूँज, बाजों और गायन आदि की ध्वनि जब समवेत रूप से कानों में पड़ी तो पैर तेज़ी से उठने लगे। मैंने कहा, "माधो भाई, देखो मेला खींच रहा है। अच्छी तरह मालूम है कि मेले में क्या है, परन्तु फिर भी आतुरता है। हम लोग भला होगा कि यहीं से देखें। वह देखो रंग-बिरंगे वस्त्रों की प्रदर्शनी-सी लग रही है। अजी गाँव के लोग आज भी मर नहीं गए हैं। बच्चों की उछल-कूद, फुलौने, पिपिहिरी और खिलौने की

खुशी में खिले चेहरे ! लोगों की साफ़-सुथरी पोशाकें ! किसानों के सिर पर पगड़ी, गोद में बच्चे ! वह देखो चरखी ! चढ़े हुए लोगों का एक दल जय-जयकार कर रहा है। वह देखो रामचबूतरा ! वह देखो युद्ध हो रहा है ! सिर पर चेहरा बाँधे लड़के रावण की जय बोलते हैं। पैंतरे पर राम-लक्ष्मण की जोड़ी किस प्रकार चल रही है। वह दूसरी ओर सीताजी बिठाई गई हैं। पास में ही ढोल-झाल पर लोग रामायण गा रहे हैं।"

"सब भगवान् की माया है !" माधो भाई ने कहा। उसी समय रामायण की एक चौपाई रामलीला के सम्वाद-सूचक लोगों के मुंह से निकलकर झनझनाती हुई कानों में आई—

गर्जेउ भरत घोर रव भारी,
कहाँ रामु रन हतौं पचारी।

और ठीक उसी समय कागज़ की बनी एक विशाल मानवाकृति में आग लगा दी गई। धूमकुज उगलकर वह आकृति उधर भस्म होने जा रही थी और इधर हम लोगों के साथ आते अनेक आदमी उस ओर दौड़ पड़े।

"चलो चलो, दौड़ो।" कहकर माधो भाई भी उन लोगों के साथ दौड़ पड़े और उस समय मुझे भी और कुछ नहीं सूझा। खिचा-खिचा पीछे दौड़ चला एकदम अनियन्त्रित-सा।

पास पहुँचे तो रावण जल चुका था और उसके नीचे की भूमि की मिट्टी लोग हाथ से बटोर रहे थे। माधो भाई भी एक ओर भिड़े थे। मेरी समझ में कुछ नहीं आया और देखा-देखी मैं भी एक जगह बैठकर मिट्टी धीरे-धीरे बटोरकर उठाने लगा।

उसी समय एक छात्र ने आकर प्रणाम किया और बोला, "मास्टर साहब, आप भी सोना लूट रहे हैं !"

अब न मिट्टी लेकर उठते बनता था और न फेंकते बनता था तथा माधो भाई ने उत्साहित किया, "अजी, यह मिट्टी नहीं, लंका का सोना है। क्या असमंजस में पड़े हो ! थोड़ा रख लो। घर में ले चलना शुभ

माना जाता है।"

अब, यह मेरे सामने मुट्ठी-भर मिट्टी है। यह मिट्टी नहीं लंका का सोना है। सकल विश्व की सम्पदा की राशि को 'चाककर' रखनेवाला रावण जल गया। उसकी सोने की लंका में रहा न कुल कोउ रोवनिहारा। रामराज्य का श्रीगणेश हो गया है। प्रजा प्रसन्न है। यह विजय का दिन है। धरती पर ऐसा शुभ शायद ही कोई दूसरा दिन है। तभी सुना—

बरसहिं सुमन देव मुनि वृन्दा,
जय कृपाल जय जगति मुकुन्दा।

काश कि वह दिन दूर न होता, जब विश्व-रंगमंच पर फिर शोषण, बर्बरता, अन्याय, अहम्मन्यता, भ्रष्टाचार, प्रपीड़न, अत्याचार, भौतिकवाद, धर्मान्धता और पैशाचिकता के दशानन का वध होता और राम की जयकार करने वालों के हाथ में वास्तविक सोना होता!

सड़क पर

केसरी कुमार

आज कालेज बन्द है और मन अलसाया है। जाने कहाँ की उदासी घनीभूत होकर मन पर छा गई है।

खिड़की खुली है। हवा के झोंके ने टेबुल पर रखी मन्नू की चिट्ठी को नीचे गिरा दिया है। वह भी कैसा नादान है। लिखा—खूब पढ़ता हूँ। दो-दो घंटे रोज़। देखो भैया, आते समय स्प्रिंगवाला खिलौना जरूर लाना। इब्सन ने भी 'खिलौनाघर' लिखा है। कितना अन्तर है दोनों में! मन्नू ने खिलौने को सत्य समझा है और इब्सन की नायिका ने सत्य को—पति, संतान और परिवार को—खिलौना समझकर छोड़ दिया है। इस विडम्बक संसार के सत्य और असत्य में क्या अन्तर है? एक ही वस्तु एक के लिए सत्य और दूसरे के लिए असत्य है, एक युग में ग्राह्य और दूसरे युग में वर्ज्य है। सत्य की खोज में कितनों ने देह गलाई, किन्तु क्या वे सत्य और असत्य के बीच स्पष्ट लकीर खींच पाए? वस्तुतः इस सीमित संसार में चरम सत्य के लिए स्थान ही नहीं है। जो कुछ है सापेक्ष है, सत्य भी सापेक्ष।

चिट्ठी को उठाकर यथास्थान रख दिया और खिड़की लगाने लगा। आकाश की ओर नज़र गई। एक चील आकाश की नीलिमा में न जाने कब

से वृत्त बनाने का प्रयत्न कर रही है। क्या वह शून्य में लकीर बना पाएगी ? क्या जहाज़ पानी पर लीक बना पाता है ? कोल्हू का बैल आँखें मूँदकर कोल्हू के चारों ओर चक्कर काटा करता है। सोचता है—खूब चला। थक भी जाता है। किन्तु क्या वह विकास कर पाता है ? शायद नहीं ? तो क्या चील की तुलना प्रयत्न करके भी पानी पर लीक न खींच पाने वाले जहाज़ और असंख्य बार घूमकर भी प्रगति न कर पाने वाले कोल्हू के बैल से की जा सकती है ? शायद नहीं। जहाज़ और कोल्हू के बैल जगत् के उपयोगितावादी और स्वार्थ-परायण व्यक्तियों के उपकरण मात्र हैं। चील अन्तरिक्ष की उन्मुक्त एवं अलक्ष्य साधक है। उसकी आत्मा बिकी नहीं है, उस पर उसी का अधिकार है। वह प्रतीक है। वह बतलाती है कि काल-चक्र की परिक्रमा के बीच रहकर भी धुन का पक्का साधक सिद्धि की साधना कर सकता है। वह बतलाती है कि रूप सत्य नहीं हैं, अरूप सत्य है, उस अरूप को रूप नहीं दिया जा सकता, उसका आभास दिया जा सकता है।

सत्य और असत्य, रूप और अरूप······। खिड़की खुली छोड़कर मैं पलंग पर लौट आया। आँखें अब भी खिड़की के बाहर झाँक रही थीं। कभी वे चील के वृत्त-निर्माण में योग देतीं और कभी सामने की सड़क पर उलझ जातीं। हमारी खिड़की से यह सामने की सड़क बहुत दूर तक जायगी। इस पर चलते सभी हैं—प्रत्यक्षवादी भी, परोक्षवादी भी, कर्मवादी भी, सिद्धांतवादी भी। इसी पर थकते सभी हैं—कोई थोड़ी दूर चलकर और कोई अधिक दूर पहुँचकर।

इस सड़क पर होने वाले प्रतिक्षण के परिवर्तनों को हमने अनगिनत बार देखा है। इन परिवर्तनों के नव-नव विधान को देखकर कभी आकर्षण का अनुभव हुआ है, और कभी इसकी अव्यवस्थित भीड़ को देखकर, जिसमें अनेक के बीच भी हम अपने को नहीं पाते हैं और जिसे कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'असृष्टि' का उदाहरण माना है, विकर्षण भी हुआ है। आज लगता है कि आकर्षण अथवा विकर्षण के लिए यहाँ स्थान ही नहीं है।

सड़क मानो कबीर के स्वर में कह रही है—जो कुछ तुम स्थूल आँखों से देख रहे हो वह सही नहीं है : देखो न, ये विच्छिन्न रूपात्मक परिवर्तन विराट् अरूप में प्रतिक्षण—प्रतिपल लयमान होकर शून्य-शून्य में एकाकार हो रहे हैं। मानो आसमान की चील की आवाज को सड़क भी पृथ्वी पर दुहरा गई है—रूप पर मत भूलो, यह क्षणभंगुर है; रूप सत्य नहीं है, अरूप सत्य है।

किन्तु आज का यन्त्र-युग क्या सड़क अथवा चील के इस छायादर्शन को स्वीकार करेगा ? क्या आज का प्रत्यक्षवादी मानव असीम को पाने के लिए पास के उत्थान से मुख मोड़ लेगा ? आत्मा के लिए शरीर की उपेक्षा करेगा ? इसकी सम्भावना नहीं है। मगर इसकी आवश्यकता भी तो नहीं है। रूप अरूप का बाधक नहीं, साधक है। इसीलिए तो मूर्ति में भगवान् के दर्शन होते हैं, 'खुदा के नूर को हुस्ने बुताँ के परदे में' देखा जाता है। अनन्त को पाने के लिए जीवन से विमुख होने की ज़रूरत नहीं। जीवन का उत्कर्ष और अनन्त की साधना दोनों साथ-साथ चल सकते हैं। यही तो सहज साधना है। सड़क इस 'सहज-साधना' का सबसे बड़ा प्रमाण है। एक ओर वह असंख्य लोगों के दैनिक जीवन में असहयोग देती रहती है। और दूसरी ओर वह सदा अनन्त की ओर बढ़ती भी रहती है।

इस सड़क को देखकर श्रीनारायण चतुर्वेदी की 'वियाना की सड़क' का उतना ध्यान नहीं आता जितना कमलाकांत वर्मा की 'पगडंडी' और अहमद अली की 'हमारी गली' का। यह सड़क भी राज्योद्यान की पगडंडी रही होगी—छड़ी-सी पतली और हल्की उम्र की। दोनों ओर हसीन क्यारियाँ मल्लिका की माला और पारिजात का हार लिये खड़ी रहत होंगी। राजकुमार हसरत-भरी निगाह से उसे देखते होंगे ! वह मुग्धा की मुसकान बन जाती होगी। एक दिन राजकुमार का शव भी इसी राह से निकला होगा। वह ‍निष्फारित आँखों से सब-कुछ देखती होगी। फिर नया राजकुमार आता होगा और उद्यान-विहार का वही सनातन क्रम

चलता होगा। फिर महाप्रस्थान और नव विहार। कृत्रिम प्रेम का वाणिज्य करते-करते वह थक गई होगी। उसने जाना होगा, प्रेम का यह कूचा बड़ा संकीर्ण है। सीमा का प्रेम बड़ा दुखदायी होता है। तब सीमा तोड़कर वह असीम से अभिसार करने चली होगी। उस दिन कितनी शीतलता का अनुभव किया होगा उसने! वहाँ न किसी का विरोध है और न किसी का वियोग। एक ऐसे ही दिन मीरा ने गाया था--

सुपने में म्हाने परण गया जी गया अचल सुहाग।

उस महामिलन के दिन यह सड़क भी कृतकृत्य हो गई होगी। प्रेम ने विश्व-प्रेम का रूप धारण किया और विश्व-प्रेम ने विश्व-सेवा का। सेवा प्रेम की अन्तिम परिणति है। यहाँ पहुँचकर किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं रह पाता। आज सड़क ने अपने स्वार्थों को छोड़कर सेवा का व्रत लिया है। इसलिए वह महान् है। आज उसने अपने को खो दिया है। इसलिए उसने अनन्त को पा लिया है—स्वयं अनन्त बन चुकी है। खुदी को खो देना ही तो खुदा को पा लेना है। 'हमारी गली' की भाँति यहाँ भी अनेक मिर्ज़ा अपनी दर्द-भरी कहानी लिये जीवन के दिन हँस-हँसकर काट रहे हैं। यहाँ भी नादान बच्चे पगली को मारते हैं। किन्तु मिर्ज़ा की स्त्री की भाँति सड़क यह नहीं रोती कि—

गई यक-ब-यक जो हवा पलट, नहीं दिल को सब्रो करार है।

सड़क ने जीवन को निकट से देखा। वह जानती है कि सुख-दुःख, जन्म-मरण, जीवन के सहचर हैं। हम चाहकर भी किसी को नहीं छोड़ सकते। और दुःख को स्वीकार लेना ही तो आनन्द के निकट पहुँचना है। यही तो सम्पूर्णता है। सड़क ने इसे स्वीकार किया है। इसलिए उस सदा सुहागिन के आँगन में सदा बहार है—साँझ को होली और रात को दिवाली है। वह सामने जो घर है, कल खाली था। सुना, बंगाली बाबू की नौकरी छूट गई। वे बहनोई के यहाँ कलकत्ता रहेंगे। आज नये किरायेदार आये हैं। उनकी माँ धर्मात्मा हैं। श्री सत्यनारायण की कथा कहलवाई है और मोहल्ले-भर में मिठाइयाँ बाँटी हैं।

सड़क बदनाम है। सड़क की हवा जेल की हवा से भी बदतर समझी जाती है। सड़क के साथी चौराहे पर कतरा जाते हैं। यहाँ की सहानुभूति शिष्टाचार मात्र है। यहाँ सबको अपनी-अपनी राह तय करनी पड़ती है। और बच-बचकर चलना होता है। सड़क पोषक है। सडक छद्मवेषी है। काश ! कोई इसके हृदय को चीरकर देख पाता कि ऊपर से देखने पर मायाविनी-सी दीखनेवाली सड़क भीतर से कितनी निर्लिप्त है ! सड़क के इसी निस्संग अन्तस् से प्रेरणा पाकर कबीर ने जनरव के बीच खड़े होकर कहा होगा—

कबिरा खड़ा बजार में, सबकी माँगे खैर।
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर॥

कोई ठोकर मारता है, कोई कुरेदता है; कोई कील गाड़ता है, कोई बन्दनवार सजाता है; कोई भर्त्सना करता है, कोई सराहना करता है। सड़क सबको स्वीकार कर सेवा और साधना के पथ पर अजस्र-रूप से बढ़ती जाती है।

उस दिन श्री सुधांशुजी ने प्रगतिवाद के एक कठोर पक्ष का उद्‌घाटन करते हुए कहा कि आज प्रगतिवादी साहित्य में 'सर्वहारा' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने में जितना सचेष्ट हैं उतना उन्हें शिक्षित करने में नहीं। प्रगतिवादी साहित्य के अधिकांश पाठक 'बुर्जुवा' ही हैं। 'साहित्यिक मोर्चा' के साथ ही सामाजिक मोर्चा भी उन्हें खोलना चाहिए। 'सर्वहारा' को शिक्षित कर योग्य पाठक बनाना चाहिए; नहीं तो उनके सारे प्रयत्नों का अन्तिम फल संतोषप्रद नहीं होगा। तो मुझे लगता है कि यह सामने की सड़क सच्चे अर्थ में प्रगतिशील है। वह नित्य नयों के साथ मिलकर नित-नित नवीन होती जाती है। आज फुटपाथ से युक्त है, कल बिजली से लैस। नित्य नया साहित्य देती है। सड़क पर खड़े हो जाइए और तरह-तरह के नये-नये नारे और तराने सुन लीजिए। प्रगतिवाद की सामग्री तो जैसे इसकी बाँट में पड़ी है। यदि यह न होती तो क्या निरालाजी कह पाते—

वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।

किन्तु सड़क कोरा सिद्धान्त ही नहीं जानती, कर्म भी जानती है, अनुकूल आचरण भी करती है। एक ओर वह नित नूतन साहित्य सिरजती है, और दूसरी ओर गँवई के लोगों को कोतवाली भी दिखाती है, अपाहिजों को आश्रय देती है और 'सर्वहारा' को समता और स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाती है।

सत्य और असत्य, रूप और अरूप, कर्म और सिद्धान्त···। सड़क के मौन में कितनी मुखरता है !

चील अब भी ऊपर वृत्त बना रही थी, किन्तु अब मैं मन्नू को पत्रोत्तर लिखने बैठ गया था।

निबन्ध की बात

निबन्ध और व्यक्तिगत निबन्ध

संस्कृत शब्द 'निबन्ध' का शाब्दिक अर्थ 'बांधना' या 'सँवारकर सीना' है। प्राचीन काल में हस्तलिखित ग्रन्थों के बांधने या सीने के प्रसंग में इस शब्द ने रूप ग्रहण किया। इसी परिवार का एक दूसरा शब्द 'प्रबन्ध' भी अति प्राचीन है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दोनों ही बंधन के द्योतक हैं, पर व्यवहार में 'प्रबन्ध' का क्षेत्र निबन्ध की अपेक्षा अधिक व्यापक रहा और उसमें अनेक मतों का संग्रह होता रहा। 'हिन्दी शब्द-सागर' ने भी इस शब्द का अर्थ 'वह व्याख्या' माना है 'जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो'। इस परिवार का तीसरा शब्द है 'लेख', जिसका मूल अर्थ 'लिखा हुआ' होता है। यों अब निबन्ध, प्रबन्ध और लेख में प्रायः अभेद हो गया है और व्यवहार में उपर्युक्त सभी प्रकार के गद्यविधानों को निबन्ध कह दिया जाता है। सो, 'निबन्ध' आज एक बहुव्यापक शब्द बन गया है। ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-उपनिषद्, साहित्य, राजनीति इत्यादि किसी भी विषय पर प्रस्तुत भाव-गुंफन को निबन्ध कह सकते हैं। पोप की आलोचनात्मक छन्दोबद्ध रचना और भारतेन्दु के भाषण तक को निबन्ध की संज्ञा मिल चुकी है।

किन्तु अब 'निबन्ध' शब्द वैयक्तिक अनुभूतियों पर आश्रित एक ऐसे गद्यविधान के लिए रूढ़ हो गया है जिसे व्यक्तिगत निबन्ध कहते हैं। मराठी में 'व्यक्तिगत निबन्ध' के लिए 'ललित निबन्ध' का प्रयोग चल पड़ा है। प्रो० फड़के का 'नवें लेंणे' ऐसे ही 'ललित निबन्धों' का प्रसिद्ध संग्रह है। 'अंग्रेज़ी विश्वकोश' में निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"साहित्यिक रूप के लिहाज से निबन्ध औसत लम्बाई की साधारणतः गद्य में की गई एक ऐसी रचना है जिसमें किसी विषय पर सरल एवं स्वच्छन्द ढंग से विचार किया गया हो और जिसमें विषय का प्रतिपादन उसी रूप में किया गया हो जिस रूप में उसने लेखक को प्रभावित किया

है।" इस व्याख्या से दो बातें स्पष्ट होती हैं : एक तो यह कि व्यक्तिगत निबन्ध आत्मनिष्ठ होता है, न कि वस्तुनिष्ठ और दूसरी यह कि प्रतिपाद्य वस्तु की गौणता के कारण प्रतिपादन-शैली प्रमुख, स्वच्छन्द होती है।

इधर इस प्रकार के गद्यविधान का आरम्भ फ्रांस में हुआ और उस देश के विख्यात साहित्यकार मॉनटेन इसके आदि-लेखक हुए। मॉनटेन ने ऐसे निबन्धों को 'आत्मा के संवाहन का प्रयत्न' कहा है। उन्होंने निबन्ध को आत्मा का सवाहन कहकर उसकी आत्मनिष्ठता को आत्मकथा की कोटि में ला दिया है। अपनी सफाई में वे कहते हैं कि "अपने निबन्धों का विषय मैं ही हूँ क्योंकि मैं ही तो एकमात्र वह व्यक्ति हूँ, जिसे मैं भलीभाँति जानता हूँ।" इस प्रकार मॉनटेन के अनुसार निबन्ध का उद्देश्य केवल आत्मनिवेदन है। इस आत्मनिवेदन की प्रक्रिया में कोई-न-कोई मनःस्थिति काम करती है। उसी मनःस्थिति के अनुरूप निबन्ध व्यंग्य-पूर्ण, विनोदात्मक अथवा गम्भीर हो जाता है। लेखक की इस मनोदशा और उससे उत्पन्न लेखन की आत्मनिष्ठ, स्वाभाविक एवं स्वच्छन्द पद्धति को ध्यान में रखकर अंग्रेज़ी के समर्थ आलोचक और निबन्धकार डॉ० जॉनसन ने निबन्ध को 'एक शृंखलित एवं सुव्यवस्थित रचना' न मानकर उसे 'मन का एक हठात् अस्तव्यस्त आक्रमण' तथा 'एक अव्यवस्थित अधपका सन्दर्भ' कहा है। निबन्ध में आत्मचिन्तन की प्रधानता होती है, आदर्श वा सन्देश का आग्रह नहीं। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर किसी ने निबन्ध को 'भोजनोपरान्त का स्वगत' और किसी ने निबन्धकार को 'आरामकुर्सी में पौढ़ा हुआ दार्शनिक' कहा है। थैकरे ने इस प्रकार के निबन्ध को 'चक्करदार लेख' कहा है क्योंकि वह वर्ण्य-विषय को केन्द्र में रखकर विशेष मनोदशा में स्थित व्यक्तित्व के सहारे विषय के चारों ओर दूर-दूर चक्कर काटता रहता है। निबन्धकार बेकन के 'बिखरे चिन्तन' को इसी मानी में समझा जा सकता है। निबन्ध की विशेषता उसके वर्ण्य-विषय में नहीं, क्योंकि कोई भी विषय उसके लिए पर्याप्त होगा, वरन् लेखक के व्यक्तित्व-आकर्षण में है या प्रीस्टले के शब्दों में

निबन्धकार का विषय होता ही नहीं, संसार में जितने भी विषय सम्भव हैं सभी उसके बन्दे हैं। इसका साधारण कारण यह है कि लेखक का काम अपनी या अपने एवं विषय के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करना है। वह निबन्ध के एक-एक मुहावरे को व्यक्तित्व में पगा देखता है। आत्म-निवेदन की यह भावना, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, मन:स्थिति की प्रधानता निबन्ध को गीतिकाव्य के निकट ला देती है। इसलिए निबन्ध को 'गद्यगीत' भी कहा गया है। स्मिथ ने निबन्ध के गीतिसाम्य पर विचार करते हुए लिखा है कि "साहित्य-रूप के विचार से निबन्ध गीतिकाव्य से मिलता-जुलता है, उस हद तक जिस तक वह किसी केन्द्रीय मन:स्थिति—प्रक्षेप, गम्भीर अथवा व्यंग्यपूर्ण—से उत्प्रेरित रहता है। मन:स्थिति को रूप दीजिए और निबन्ध प्रथम वाक्य से अन्तिम तक उसके चतुर्दिक् उठ खड़ा होगा, जैसे रेशम के कीड़े के चारों ओर रेशम उगता जाता है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक निबन्ध की पाश्चात्य व्याख्या पर विचार करते हुए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।"

निबन्ध की विशेषताएँ

ऊपर की व्याख्याओं और परिभाषाओं के आधार पर स्थूल रूप से अब निबन्धों की विशेषताएँ बतलाई जा सकती हैं। मोटे तौर पर वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. व्यक्तिगत निबन्ध में निबन्धकार के व्यक्तित्व की सर्वथा प्रधानता होती है। निबन्ध आत्मनिष्ठ होता है।

२. इसमें किसी-न-किसी मन:स्थिति की प्रेरणा रहती है।

३. व्यक्तित्व और मन:स्थिति की दूरी से लिखित होने के कारण निबन्ध में विषय के विकास-क्रम और विचारों की शृङ्खला का अभाव रहता है और मन:स्थिति के अनुरूप गम्भीरता, व्यंग्य, विनोद इत्यादि

रागात्मक तत्त्वों का बाहुल्य।

४. इसमें शैली की प्रधानता रहती है और उस शैली में कृत्रिम उपादानों का बहिष्कार एवं बातचीत के ढंग की स्वीकृति रहती है।

५. इसका आकार-प्रकार महाकाव्य एवं उपन्यास से न मिल कर शब्दचित्र अथवा गीति से मिलता-जुलता है।

हिन्दी निबन्धों का विकास

हिन्दी निबन्धों का आरम्भ-काल भारतेन्दु-युग है। भारतेन्दु-काल के प्रमुख निबन्धकार हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बदरीनारायण 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी, लाला श्रीनिवास दास, बाबू तोताराम, मुंशी ज्वालाप्रसाद, अम्बिकादत्त व्यास, केशवराम भट्ट इत्यादि। भारतेन्दु बाबू इस युग के पारस थे। युग की समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों में उनका ही व्यक्तित्व था। उन्होंने अनेक प्रकार के विचारात्मक, वर्णनात्मक और भावात्मक लेख लिखे। उनके नाटकों की तरह उनके निबन्धों में भी उनकी मार्मिक आत्मकथा प्रतिभासित है। दुराव-हीनता भारतेन्दु के निबन्धों की विशेषता और आकर्षण है। 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन' कथात्मक प्रणाली के साथ स्वप्न-शैली को (जिसमें स्वप्न के माध्यम से मन के उच्छ्वास का चित्रण होता है) उपस्थित करता है—एडीसन के 'दी विज़न ऑफ़ मिरज़ा' की तरह। पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र की युगलमूर्ति अंग्रेजी के एडीसन और स्टील की याद दिलाती है। स्टील और एडीसन की तरह ये दोनों भी पत्रकार थे। यदि उनका सम्बन्ध 'स्पेक्टेटर' से था तो इनका 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' से। ह्यूज वाकर ने कहा था कि एडीसन में बौद्धिकता की प्रधानता है और स्टील में हृदय-पक्ष की। तुलना यहाँ भी सटीक उतर आती है। भट्टजी में मस्तिष्क का तर्क प्रबल है, मिश्रजी में हृदय पक्ष। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही भट्टजी की तुलना एडीसन

से और प्रतापनारायण मिश्र की स्टील से की थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश लेखक पत्रकार या पत्रों में लिखने वाले थे। और यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो उनकी रचनाएँ 'लेख' ज्यादा हैं, 'निबन्ध' कम।

हिन्दी में 'निबन्धों' के आरम्भकर्त्ता सही मानी में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र हैं। भट्टजी ने साधारण-से-साधारण विषयों—जैसे नाक, कान, आँख, पैसा, नहीं, बातचीत, इंगलिश पढ़ै सो बाबू होय, पसंद, माँ, आँसू, इत्यादि—से लेकर असाधारण-से-असाधारण विषयों—जैसे 'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं', 'ईश्वर भी क्या ही ठठोल है', 'भकुआ कौन-कौन है' इत्यादि—तक पर बड़े आत्मीय और विशिष्ट ढंग से लिखा है। उनके निबन्धों में शब्द-चित्र का चमत्कार, अनोखी सूझ और भाषा का चमकदार प्रवाह है। उन्होंने निबन्धों के अनुरूप शब्द और मुहावरे गढ़े भी थे, जैसे 'सुन्दरापा', 'बेबनावट', 'मरपच साहित्य', 'टटके-टटके' इत्यादि। पं० प्रतापनारायण मिश्र एक फक्कड़ जीव थे, पर जानने वाले जानते हैं कि उनका यह फक्कड़पन कितनी विपदाओं से घिरा था। उनका यही स्वभाव उनके निबन्धों में उतर आया है। चाहे 'मनोयोग', 'हमारी आवश्यकता', 'नारी' आदि जैसे गम्भीर विषय हों, चाहे 'घूरे के लत्ता बिनै', 'होली', 'आप', 'तिल', 'भौं', 'और' आदि जैसे समसामयिक और काल्पनिक विषय हों, हास्य और विनोद की फुलझड़ियाँ और फव्वारे बीच-बीच में पाठकों को लोट-पोट कर ही देंगे। स्टील की तरह तर्कों के बीच उनकी हार्दिकता उमड़-उमड़ आती है। इसके अतिरिक्त उनके नबन्धों में व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों की दो अन्य विशेषताएँ मिलेंगी। एक तो यह कि वे अपने निबन्धों के विभिन्न नामधारी पात्रों में स्वयं उपस्थित रहते हैं और इस कारण सर्वत्र आत्मीयता बनी रहती है तथा दूसरी यह कि उनकी भाषा का स्वच्छंद प्रवाह लोक-जीवन के मुहावरों और रोज़मर्रा के सहारे पाठकों को निकट ले आता है और रचना को एक स्थानीय रंग दे जाता है।

'प्रेमघन' के निबन्ध अपेक्षाकृत कम और वर्णनात्मक हैं, जैसे पावस,

ऋतु-वर्णन, फाल्गुन इत्यादि। हाँ, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बालमुकुन्द गुप्त ने शिवशम्भू शर्मा के नाम से 'भारतमित्र' में चिट्ठे लिखकर निबन्ध को एक नयी गति दी। उनके निबन्ध 'शिवशम्भू के चिट्ठे और खत' के नाम से पुस्तकाकार छपे हैं। इन निबन्धों में उनका व्यक्तिगत मौज. और मस्ताना दृष्टिकोण दर्शनीय है। उनके अनुकरण में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य-विनोदपूर्ण पत्रों और चुटकुलों की एक परिपाटी-सी चल पड़ी और आज तक बदस्तूर चल रही है।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ द्विवेदी-काल से होता है। इस काल के प्रमुख लेखक हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० माधव मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', श्री गोपालराम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय इत्यादि। इस काल के निबन्धों और भारतेन्दु-काल के निबन्धों में विशेष अन्तर नहीं। हाँ, इस युग के निबन्ध पूर्वकालीन विनोद के स्वर को छोड़कर निश्चयात्मकता एवं विवेचनात्मकता को अंगीकार करने लगे हैं और साथ ही इनकी भाषा भी स्थिर-सी है। द्विवेदीजी के निबन्ध विचारात्मक एवं व्यास शैली में लिखे गए हैं। आपने करीब ढाई सौ निबन्ध लिखे हैं। इतने निबन्ध अब तक किसी ने नहीं लिखे थे। उनके निबन्धों के संग्रह हैं 'विचार-विमर्श', 'रसज्ञ-रंजन', 'रेखांजलि', 'समालोचना समुच्चय', 'आलोचनाञ्जलि' इत्यादि। पं० पद्मसिंह शर्मा एक शैलीकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं और प्रायः कृत्रिम शैली के प्रसंग में उनका उदाहरण दिया जाता है। पर यही शैली उनकी विशिष्टता है। इसमें जगह-जगह बड़ी चंचल भंगिमाएँ हैं। उनके निबन्धों का संग्रह 'पद्मराग' है। गुलेरीजी के निबन्ध 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' प्रसिद्ध है। गुलेरीजी शैली के चटपटेपन से नीरस विषयों में भी जान डाल देते थे। वे विवेचनात्मक निबन्धों में भी हास्य और शास्त्रीयता का अद्भुत मिश्रण कर देते थे। गहमरीजी ने उपन्यासों के साथ कुछ निबन्ध भी लिखे हैं, जो भावात्मक हैं। उनके निबन्धों की विशेषता विषयानुरूप भाषा है। ब्रजनन्दन सहाय के निबन्धों में अनुभूति की वह

तन्मयता है जो पाठक को भावविभोर कर देती है ।

परवर्त्तीकाल के निबन्धकार हैं रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पूर्णसिंह, धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य शिवपूजन सहाय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्र कुमार, गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी, महादेवी वर्मा, नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीकान्त झा, माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, नवलकिशोर गौड़, केसरी कुमार, प्रो० कपिल, श्रीनरेश, शिवचन्द्र शर्मा, डा० रघुवीरसिंह इत्यादि । शुक्लजी और श्यामसुन्दर दास से तो सभी परिचित होंगे । पूर्णसिंह ने थोड़ा लिखा है पर जो कुछ लिखा है हृदय की सजलता से । उनके निबन्धों में भाषा जैसे आत्मा से छनकर निकली हुई है; वह काव्यात्मक और फिर भी अनिवार्यतः स्वाभाविक है । उनके निबन्धों का अन्तरंग आध्यात्मिक भावुकता से बना है । गुलाबरायजी का निबन्ध-संग्रह 'मेरी असफलताएँ' व्यक्तिगत निबन्धों का एक अच्छा संग्रह है । बख्शीजी का भी हिन्दी के व्यक्तिगत निबन्ध-साहित्य में विशिष्ट स्थान है । 'दूर के ढोल सुहावने', 'क्या लिखूँ', 'रामलाल पण्डित', 'नहीं' इत्यादि उनके महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत निबन्ध हैं । बख्शीजी के निबन्धों में प्रायः दो विरोधी बातों का आश्चर्यजनक समन्वय मिलेगा, व्यंग्य, पर कटुता नहीं; तथा गीतिकाव्य की भंगिमा पर पहले दर्जे की सरलता। सियारामशरण गुप्त भी उत्कृष्ट व्यक्तिगत निबन्धकार हैं। हिन्दी-साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन निबन्ध-संग्रह 'झूठ-सच' है । इन निबन्धों में कहानी का वस्तु-आकर्षण, कविता का उच्छ्वास और उपन्यास का विस्तार है । सब मिला-जुलाकर ये निबन्ध बड़े सफल और मनोरम हो गए हैं । हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध संग्रह 'अशोक के फूल' भी अपने ढंग का अनूठा है । द्विवेदीजी उन बिरले व्यक्तियों में हैं जो संस्कृत गलाकर हिन्दी को सँवार सके हैं, जिन्हें संस्कृत के ज्ञान-भण्डार से ही नहीं, अपितु शैली से भी बल मिला है । अनुभव और अध्ययन का ऐसा

मेल शायद ही कहीं मिले। चुटकुले, संस्मरण और काव्य का संयोग भी विचित्र है। और सबके भीतर से उभरनेवाला मार्मिक विवेचन जैसे निबन्धों का जलपूर्ण आकाश है। जैनेन्द्रजी के निबन्ध लगभग सब-के-सब व्यक्तिगत हैं क्योंकि चाहे कैसा भी निबन्ध हो वे उसे कहानीकार की मुद्रा में लिखेंगे, जैसे वे किसी से बात कर रहे हों। प्रभाकर माचवे का प्रकाशित व्यक्तिगत निबन्धों का संग्रह 'खरगोश का सींग' है। शिवपूजन जी 'मतवाला' में 'अगिया बैताल' के छद्मनाम से जो हास्य-विनोद व्यंग्यपूर्ण निबन्ध लिखते रहे उनका एक संग्रह 'दो घड़ी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। शिवजी की शैली में वह काट है जो लेखक की प्रभुता बतलाती है। मस्ती, अनुभूत भाव और वर्णन की सटीकता इन निबन्धों की विशेषताएँ हैं। लक्ष्मीकान्त झा ने तो हिन्दी को व्यक्तिगत निबन्ध की एक नयी शैली देने का दावा ही किया है क्योंकि अपने निबन्ध-संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "इन निबन्धों के द्वारा मैंने हिन्दी में एक नयी ही शैली का प्रयोग किया है। ये निबन्ध उस शैली के हैं जिसमें अंग्रेज़ी के व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध हुआ करते हैं।" माखनलालजी अपने निबन्ध-संग्रह 'साहित्य देवता' में अन्योक्ति पद्धति पर लिखे गये निबन्धों के रचयिता के रूप में आये हैं। इधर तो इनके 'चिन्तक की लाचारी' और 'अमीर इरादे—गरीब इरादे' नाम से अन्य निबन्ध-संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। इधर के प्रकाशनों में श्री विद्यानिवास मिश्र कृत 'छितवन की छाँह' तथा 'मैंने सिल पहुँचायी', श्री विवेकीराय रचित 'फिर बैतलवा डाल पर', श्री हरिशंकर परसाई का 'पगडंडियों का जमाना', श्री शिवप्रसादसिंह का 'शिखरों का सेतु', श्री गजानन माधव 'मुक्तिबोध'-लिखित 'एक साहित्यिक की डायरी', श्री कामतासिंह 'काम' की 'आसपास की दुनिया' आदि विशेष महत्त्व के हैं। डॉ० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, नवलकिशोर गौड़, श्रीनरेश और शिवचन्द्र शर्मा ने व्यक्तिगत निबन्ध थोड़े लिखे हैं पर जो लिखे हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्री कपिल का निबन्ध-संग्रह 'बारह बातें' हैं। इधर श्री रामेश्वरसिंह 'काश्यप', श्री रामेश्वरनाथ तिवारी और श्री कुबेरनाथ राय काफी अच्छा लिख रहे हैं।

○ ○ ○